कविवर द्यानतराय के साहित्य में प्रतिबिम्बित

अध्यात्म चेतना

लेखक :

डॉ. नितेश शाह

प्रकाशक

श्री कुन्दकुन्द-कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई

कविवर द्यानतराय के साहित्य में प्रतिबिम्बित

अध्यात्म चेतना

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा

पीएच. डी. हेतु स्वीकृत - वर्ष 2008

लेखक

डॉ. नितेश शाह

प्रकाशक

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन

तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई

प्रथम संस्करण 1100 प्रतियाँ
22 फरवरी, 2012
(पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा आयोजित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित)

प्रकाशन सहयोगी

5100/-	स्व. अनुराग जैन की स्मृति में द्वारा श्री दिनेश-किरण जैन, सिवनी
5100/-	श्री दिलीप भाई शाह, जयपुर
5100/-	श्री कुन्दकुन्द वीतराग विज्ञान मंडल, जबलपुर
1100/-	संजय शास्त्री (बड़ामलहरा) जयपुर

प्राप्ति स्थान -

1. श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन
   तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट
   श्री सीमन्धर जिनालय
   173-175 मुम्बा देवी रोड, मुम्बई
2. डी-154 कुन्दकुन्द भवन
   फ्लैट नं. 3 मोती मार्ग
   बापू नगर, जयपुर-15
   09887260991
3. सर्वोदय अहिंसा
   बी. 180 ए-2 मंगल मार्ग,
   बापू नगर, जयपुर-15
   09785 999100

लागत मूल्य - 40 रुपये

न्योछावर राशि - 35 रुपये मात्र

मुद्रक -
प्री एलविल सन, जयपुर
095092 32733

प्रकाशकीय

तीर्थंकर भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव एवं परमागम मन्दिर, सोनगढ़ के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के मंगल सान्निध्य में धर्मरत्न पण्डित बाबूभाई मेहता के अथक प्रयासों से श्री कुन्दकुन्द- कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, मुंबई की स्थापना की गई। उक्त ट्रस्ट ने अनेक योजनाएँ क्रियान्वित कीं, जिसमें कुछ निम्नानुसार हैं -

1. तीर्थ सुरक्षा एवं जीर्णोद्धार -

(क) इसके अन्तर्गत 17 तीर्थक्षेत्रों का सर्वेक्षण कार्य पण्डित श्री ज्ञानचन्दजी, विदिशा के नेतृत्व में किया गया।

(ख) लगभग 25 वर्षों के अथक प्रयासों से ट्रस्ट के महामंत्री वसंतभाई मूलचंद दोशी, मुंबई ने शाश्वत तीर्थधाम श्री सम्मेदशिखरजी के संदर्भ में अभूतपूर्व सफलताएँ हासिल कीं।

(ग) अंतरीक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर के संदर्भ में पण्डित श्री ब्र. धन्यकुमार बेलोकर के प्रयासों को भी भुलाया नहीं जा सकता।

(घ) दिगम्बर जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार, नवीन जिनमन्दिरों एवं स्वाध्याय भवनों के निर्माणकार्य में चालीस से अधिक जगहों पर आर्थिक सहयोग दिया जा चुका है। वर्तमान में सहयोग राशि डेढ़ से ढाई लाख के बीच निर्धारित है।

(ङ) पौन्नूर में भव्य धर्मायतन तथा श्रवणबेलगोला में पूज्य श्री कानजी स्वामी विश्रान्ति गृह की स्थापना की गई।

(च) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के महोत्सव बावनगजा तथा श्रवणबेलगोला में श्री वसन्तभाई को मंत्री पद से सुशोभित किया गया।

2. महाविद्यालय की स्थापना व संचालन -

उक्त ट्रस्ट द्वारा श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की स्थापना एवं संचालन जुलाई 1977 से लगातार किया जा रहा है। फलस्वरूप लगभग 600 शास्त्री विद्वान तैयार हुए हैं।

3. सत्साहित्य प्रकाशन –

ट्रस्ट द्वारा अभी तक समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका (भाग 1,2,3), नाटक समयसार, पंचास्तिकाय, इष्टोपदेश एवं समाधितन्त्र, मोक्षमार्ग प्रकाशक (अंग्रेजी अनुवाद ब्र. हेमचन्दजी हेम-देवलाली), श्रावकधर्म, चिद्विलास, योगसार टीका (ब्र. शीतलप्रसादजी कृत), समयपाहुड़ (उभयटीका सहित) हिंदी भाषा में तथा आत्मानुशासन, योगसार एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार गुजराती भाषा में प्रकाशित कराये जा चुके हैं।

इसी शृंखला में डॉ. नितेश शाह, जयपुर की शोधकृति – 'कविवर द्यानतराय के साहित्य में प्रतिबिम्बित अध्यात्म चेतना' को प्रकाशित किया जा रहा है, जिससे जैनदर्शन के पूर्वकालीन एवं प्रतिष्ठित विद्वान पण्डित द्यानतरायजी का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व आलोकित हो सकेगा। जो विद्वानों एवं शोधार्थियों को विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

ट्रस्ट द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत-'पंचत्थिय संगहं सुत्तं' का अमृतचन्द्राचार्य कृत समय व्याख्या तथा जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति दोनों टीकाओं 0सहित प्रकाशन शीघ्र ही किया जायेगा। उक्त प्रकाशन विभाग जिनवाणी के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार की योजनाओं को सतत क्रियान्वित करते रहने हेतु कृतसंकल्प है।

भवदीय

समस्त पदाधिकारी एवं ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, मुंबई

अध्यक्ष	उपाध्यक्ष	महामंत्री
बाबू जुगलकिशोर युगल	**ब्र. धन्यकुमार बेलोकर**	**बसंतलाल मूलचन्द दोशी**
(कोटा)	(गजपंथा)	(मुंबई)

सुमनभाई रामजी दोशी

(राजकोट)

प्रस्तावना

कवि द्यानतरायजी जैन वाङ्मय के अद्वितीय, असाधारण, साहित्यकार एवं आध्यात्मिक सन्त कवि हैं। वास्तव में वे जैन महाकवियों की परम्परा के मौलिक ग्रन्थ प्रणेता और अध्यात्म रस के रसिया के रूप में विश्रुत थे। उन्होंने जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत अध्यात्म, दर्शन एवं साहित्य की परम्परा के मर्म को अपने में आत्मसात कर अपनी कृतियों व भाषा साहित्य द्वारा जैनधर्म के रहस्यों को उजागर किया है।

जैन आचार्यों ने जिस अध्यात्म एवं दर्शन का बीज बोया था, उसे अपने अनुपम व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व द्वारा पल्लवित, पुष्पित, फलित और विस्तृत करने का पूर्ण श्रेय द्यानतरायजी को है। इस शोधकार्य को करने के निम्न कारण रहे हैं –

(1) प्रायः जैन साहित्य को धार्मिक एवं साम्प्रदायिक मानकर उपेक्षित किया जाता रहा है और जैन कवि एवं साहित्यकारों पर शोधकार्य कम ही हुआ है। अतः जैन कवि द्यानतराय पर शोध करने का विचार उदित हुआ।

(2) अध्यात्म साहित्य की कई विशेषताएँ द्यानतराय के साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। अतः हिन्दी आध्यात्मिक साहित्य के विशेष सन्दर्भ में द्यानतराय के साहित्य का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया।

उपर्युक्त सभी कारणों को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने शोध का विषय 'कविवर द्यानतराय के साहित्य में प्रतिबिम्बित अध्यात्म चेतना' रखा। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को छह अध्यायों में विभक्त किया गया है, जिसका सारांश निम्नलिखित है –

प्रथम अध्याय में द्यानतराय के जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। जीवनवृत्त के अन्तर्गत नाम, शिक्षा, परिवार, निवास स्थान एवं कार्यक्षेत्र, जन्म–मृत्यु एवं रचनाकाल, वैवाहिक जीवन, द्यानतराय के पूर्वज आदि का निर्धारण किया गया है।

द्यानतराय का व्यक्तित्व अनेक गुणों से सुशोभित था। वे कवि, सदाचारी, अध्यात्मरसिक, सहृदय, विद्वान, गणितज्ञ, गायन–प्रिय, निरभिमानी, आत्मचिन्तक, भक्त एवं गुणानुरागी, विनम्र, मृदुभाषी, विचारशील, धार्मिक, हिंसा एवं वैर के विरोधी के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

द्वितीय अध्याय में रचनाओं का वर्गीकरण गद्य और पद्य के रूप में करते हुए उनकी प्रकाशित–अप्रकाशित रचनाओं पर विस्तृत विवेचन किया

गया है। द्यानतरायजी की कोई भी गद्य रचना उपलब्ध नहीं है। पद्य के अन्तर्गत द्यानतविलास उनकी मुख्य कृति है। मुक्तक काव्य के रूप में उपदेशशतक, चर्चाशतक, पद–संग्रह का विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त फुटकर रचनाओं के रूप में विनतियाँ, स्तोत्र, आरतियाँ, अष्टक काव्य, बावनियाँ इत्यादि का नामोल्लेख पूर्वक परिचय दिया गया है। ये समस्त रचनाएँ मुक्तक काव्य में ही समाहित हैं।

तृतीय अध्याय में अध्यात्म का स्वरूप एवं विश्लेषण के अन्तर्गत अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ, लक्षण एवं परिभाषा, अध्यात्म – विभिन्न दर्शनों की दृष्टि में, अध्यात्म – विभिन्न मनीषियों की दृष्टि में एवं अन्त में अध्यात्म के महत्त्व का वर्णन किया गया है।

साथ ही द्यानतराय के काव्य में आत्मा–परमात्मा पर विचार,जगत सम्बन्धी विचार, कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी विचार, मोक्ष सम्बन्धी विचार, मनुष्य जन्म की दुर्लभता पर विचार, राग–द्वेष–मोह तथा कषाय की बाधकता पर विचार, अज्ञान के अभाव के विषय में विचार, सद्‌गुरु का महत्त्व, साधक की अनिवार्यता सम्बन्धी विचार, आस्रव निरोध की चर्चा तथा संवर, निर्जरा की चर्चा इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया है।

चतुर्थ अध्याय में द्यानतराय की अध्यात्म निरूपणा में चारित्रगत निरूपणा के अन्तर्गत इन्द्रिय संयम की आवश्यकता, मन संयम की आवश्यकता, प्राणी रक्षा की बात, अन्तरंग एवं बाह्य शुद्धि का वर्णन, दशधर्म का वर्णन, सत्संग की चर्चा, बाह्य आडम्बर का विरोध, व्यवहार साधना मार्ग, निश्चय साधना का मार्ग, सयोग केवली तथा जीवन मुक्त की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

साधनागत निरूपणा के अन्तर्गत सात–तत्त्वों का निरूपण, छह द्रव्यों का निरूपण, आत्मतत्त्व का वर्णन, रत्नत्रय का प्रतिपादन, मिथ्यादर्शन ज्ञान–चारित्र का वर्णन, नवपदार्थ का तथा स्वानुभव का वर्णन किया है।

पंचम अध्याय में द्यानतराय के काव्य में अभिव्यक्त कलापक्ष का अनुशीलन किया गया है। इसके अन्तर्गत द्यानतराय द्वारा प्रयुक्त भाषा, छन्द–विधान, अलंकार–विधान, प्रतीक–विधान, मुहावरे और कहावतों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में सम्पूर्ण विषयवस्तु का उपसंहार किया गया है। साथ ही द्यानतराय के योगदान पर भी विचार किया गया है।

आभार प्रदर्शन

प्रत्येक कार्य की पूर्णता में वैयक्तिक प्रयास के साथ-साथ परस्परोपकारी प्रयासों का भी योगदान रहता है। शोधनिर्देशक डॉ. पी.सी. जैन का मैं अत्यन्त आभारी और चिर ऋणी रहूँगा, जिन्होंने सम्पूर्ण शोधावधि में मुझे निरन्तर प्रोत्साहित किया। मेरे उत्साह और निष्ठा को सही दिशा प्रदान करते हुए अपनी उत्प्रेरक बौद्धिकता और तलस्पर्शी सोच को मेरे शोधकार्य में प्रयुक्त कर उचित निर्देश एवं सहयोग प्रदान किया।

मेरी माताजी श्रीमती सुशीलादेवी एवं पिताजी श्री कान्तिलालजी के अगाध प्रेम एवं स्नेह ने मुझे शोधकार्य को तत्परता से करने में सदैव संलग्न बनाये रखा। मेरे अग्रज श्री भूपेन्द्र जैन एवं श्री मनोज जैन ने अपना सम्पूर्ण स्नेह एवं सौहार्द प्रदान कर मेरे कार्य में जो सहयोग दिया, उनके इस सहयोग के लिए मैं उनका सदैव ऋणी रहूँगा। मेरी सहधर्मिणी श्रीमती अनुश्री शाह की प्रशंसा किये बिना भी मैं नहीं रह सकता, जिनकी सतत प्रेरणा एवं सहयोग मेरा संबल रहा।

मैं आभारी हूँ आदरणीय डॉ. उत्तमचन्दजी सिवनी, पण्डित अभयकुमारजी, देवलाली एवं पण्डित अशोकजी लुहाड़िया का जिन्होंने शोधसामग्री उपलब्ध करवाकर एवं उचित मार्गदर्शन देकर मुझे सहयोग प्रदान किया। शोधसामग्री उपलब्ध करवाने में विभिन्न शास्त्र भंडारों, जैनमन्दिरों एवं पुस्तकालयों के अधिकारियों ने जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को प्रकाशित करने हेतु श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई का मैं आभारी हूँ। साथ ही श्री दिलीपभाई शाह, जयपुर एवं कुन्दकुन्द वीतराग विज्ञान मंडल, जबलपुर के आर्थिक सहयोग के लिए मैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ।

श्री संजय शास्त्री ने इस कार्य हेतु मुझे अपना अमूल्य समय एवं सलाह देकर सहयोग दिया एवं शोधप्रबन्ध की टाइप सेटिंग के लिए प्रीति कम्प्यूटर्स, जयपुर भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है, यह शोधप्रबन्ध सभी सुधी पाठकों, विद्वानों एवं शोधार्थियों को उपयोगी सिद्ध होगा।

– डॉ. नितेश शाह

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व 1—11

(क) जीवन परिचय :

(1) जन्म (2) नाम

(3) द्यानतराय के पूर्वज (4) शिक्षा

(5) निवास स्थान (6) कार्यक्षेत्र

(7) रचनाकाल एवं वैवाहिक जीवन (8) मृत्यु

(ख) व्यक्तित्व :

(1) सदाचारी (2) अध्यात्मरसिक (3) सहृदय

(4) विद्वान (5) गणितज्ञ (6) गायन प्रियता

(7) निरभिमानी (8) आत्मचिन्तन (9) भक्त एवं गुणानुरागी

(10) आत्मोन्मुखी (11) महाकवि

द्वितीय अध्याय : द्यानतरायजी का कर्तृत्व 12—31

(क) रचनाओं का वर्गीकरण :

(1) प्रकाशित रचनायें (2) गद्य रचनायें (3) पद्य रचनायें

(ख) रचनाओं का परिचयात्मक अनुशीलन

(1) गद्य साहित्य

(2) पद्य साहित्य – चर्चाशतक, उपदेश शतक (मुक्तक काव्य)

(ग) पूजा साहित्य :

(1) चौबीस तीर्थंकर पूजा (2) दशलक्षण पूजा (3) रत्नत्रय पूजा

(4) षोडशकारण पूजा (5) पंचमेरु पूजा (6) भाद्रपद पूजा

(7) देव–शास्त्र–गुरु पूजा (8) विद्यमान बीस तीर्थंकर पूजा

(9) सरस्वती पूजा (10) निर्वाण क्षेत्र पूजा (11) नन्दीश्वरद्वीप पूजा।

विभिन्न फुटकर रचनायें (मुक्तक काव्य), स्तोत्र, अष्टक काव्य, सुबोध पंचासिका, पदसंग्रह, बावनियाँ आदि।

तृतीय अध्याय : द्यानतरायजी के साहित्य में अध्यात्म चेतना 32—141

(क) अध्यात्म स्वरूप एवं विश्लेषण

(1) अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ, लक्षण एवं परिभाषा

(2) अध्यात्म विभिन्न दर्शनों की दृष्टि में

(3) अध्यात्म विभिन्न मनीषियों की दृष्टि में
(4) अध्यात्म का महत्त्व
(ख) द्यानतरायजी के काव्य में अध्यात्म
(1) आत्मा–परमात्मा पर विचार। (2) जगत सम्बन्धी विचार।
(3) कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी विचार।(4) मोक्ष सम्बन्धी विचार।
(5) मनुष्य जन्म की दुर्लभता पर विचार
(6) राग–द्वेष–मोह तथा कषाय की बाधकता पर विचार
(7) द्यानतराय के अज्ञान के अभाव के विषय में विचार
(8) सद्गुरु का महत्त्व (9) साधक की अनिवार्यता सम्बन्धी विचार
(10) आस्रव निरोध की चर्चा तथा संवर, निर्जरा की चर्चा
चतुर्थ अध्याय : द्यानतराय की अध्यात्म निरूपणा **142–182**
(क) चारित्रगत निरूपणा :
(1) इन्द्रिय संयम की आवश्यकता (2) मन संयम की आवश्यकता
(3) प्राणी रक्षा की बात (4) अन्तरंग एवं बाह्य शुद्धि का वर्णन
(5) दशधर्म का वर्णन (6) सत्संग की चर्चा
(7) बाह्य आडम्बर का विरोध (8) व्यवहार साधना मार्ग
(9) निश्चयसाधना का मार्ग
(10) सयोग केवली तथा जीवन मुक्त की स्थिति का वर्णन
(ख) साधनागत निरूपणा :
(1) सात तत्त्वों का निरूपण (2) छह द्रव्यों का निरूपण
(3) आत्मतत्त्व का वर्णन (4) रत्नत्रय का प्रतिपादन
(5) मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र का वर्णन (6) नवपदार्थ का वर्णन
(7) स्वानुभव का वर्णन
पंचम अध्याय : द्यानतराय के काव्य में अभिव्यक्त कलापक्ष **183–210**
(1) भाषा, पूजन साहित्य की भाषा, चर्चा शतक की भाषा, विभिन्न शतक, बावनी व अष्टक साहित्य की भाषा, फुटकर रचनाओं की भाषा।
(2) छन्द विधान (3) अलंकार विधान
(4) प्रतीक विधान (5) मुहावरे और कहावतें
षष्ठ अध्याय : उपसंहार **211–214**

प्रथम अध्याय

कवि द्यानतराय का जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व

जीवन परिचयः संस्कृत एवं हिन्दी के अधिकांश कवियों ने अपनी रचनाओं में न अपना कोई परिचय दिया है और न कोई प्रामाणिक साक्ष्य ही तत्सम्बन्ध में उपलब्ध है। ऐसी परिस्थिति में कवि की रचना में उपलब्ध किसी ऐसी पंक्ति का सहारा लेना पड़ता है, जिसमें उसके परिचय की ओर संकेत हो। कवि द्यानतराय के सम्बन्ध में भी यही कथन चरितार्थ होता है। उनके शतकों एवं पदों में कहीं–कहीं उनके जन्म, शिक्षा इत्यादि के बारे में ज्ञात होता है, जिसका वर्णन इस अध्याय में आगे किया जा रहा है।

1. नाम– द्यानतराय का मूल नाम द्यानतराय ही था, किन्तु उन्होंने अपने पदों एवं पूजनों में 'द्यानत' शब्द का ही प्रयोग किया है परन्तु उनकी प्रसिद्धि 'द्यानतराय' के नाम से ही है। प्रायः उनकी सभी प्रकाशित रचनाओं में द्यानतराय नाम ही देखने को मिलता है। वैसे 'द्यानत' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ 'ध्यान में रत रहने वाला' माना जाता है। उदाहरण–स्वरूप –

'द्यानत' धरम दश पैड़ि चढ़ि कै शिव महल में पग धरा।[1]

इस तरह आलोच्य कवि का नाम द्यानतराय ही मिलता है।

2. शिक्षा– द्यानतराय का बाल्यकाल आगरा शहर में ही व्यतीत हुआ। उस समय आगरा जैनशिक्षा का अच्छा केन्द्र था। आगरा में उस समय विभिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं। शैली में पढ़कर ही द्यानतराय ने उर्दू, फारसी एवं संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था। शैली में पढ़कर द्यानतराय को देव–शास्त्र–गुरु के प्रति श्रद्धा तथा अध्यात्म का ज्ञान हुआ।[2] उनके गुरुओं ने उन्हें धार्मिक ग्रन्थों का संस्कृत के माध्यम से पठन–पाठन कराया, जिसके फलस्वरूप वह एक निपुण आध्यात्मिक कवि बन सके।

कवि के समकालीन आगरा में मानसिंह जौहरी एवं उनके शिष्य बिहारीदास जैनधर्म के प्रकाण्ड विद्वान एवं सुकवि थे। द्यानतरायजी उनके जीवन एवं चरित्र से अत्यधिक प्रभावित हुए।[3] युवावस्था में जब द्यानतराय दिल्ली आये तो सुखानन्द की शैली के सदस्य बन गये।[4]

कवि उच्च कोटि के विद्वान होने के साथ-साथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती और उर्दू आदि भाषाओं के जानकार थे। भाषा और विषय के अतिरिक्त कवि को काव्यशास्त्रीय ज्ञान भी था।

3. परिवार—द्यानतराय का विवाह 15 वर्ष की अवस्था में सं. 1748 में हुआ था। उनके सात पुत्र एवं तीन पुत्रियाँ थीं।[5]

कवि का काव्यानुशीलन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि उनका जीवन दुःखों से आक्रान्त रहा। एक स्थान पर कवि ने स्वयं लिखा है कि रोजगार बनता नहीं है, घर में धन नहीं, खाने की चिंता सदा लगी रहती है। इस अभावग्रस्त जीवन में भी पत्नी सुन्दर आभूषणों की माँग करती है। साझेदारी के चोर स्वभाव का होने के कारण घर में हमेशा धन का अभाव बना रहता है। पुत्र का द्यूतव्यसनी होना एवं पुत्री का विवाहोपरांत मर जाना भी द्यानतराय को दुःखी बना देता है। द्यानतराय की उक्त वैवाहिक जीवन की झाँकी 'उपदेश शतक' के एक छन्द में देखी जा सकती है।[6]

4. निवास स्थान एवं कार्यक्षेत्र—द्यानतराय का बचपन तो आगरा नगर में ही व्यतीत हुआ। उनका अध्ययन भी आगरा में ही सम्पन्न हुआ, किन्तु आजीविका के लिए वे बाद में दिल्ली आकर रहने लगे थे। जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी कृति 'पूरण पंचासिका' में कहा है —

आगरे में मानसिंह जौहरी की शैली हुती।
दिल्ली माहिं अब सुखानन्द की शैली है।।
इहाँ उहाँ जौर करि, यादि करी लिखी नाहिं।
ऐसे भाव आलससौं, मेरी मति मैलि है।।

कविवर द्यानतराय के कार्यक्षेत्र आगरा और दिल्ली दोनों रहे हैं। जैनधर्म का प्रमुख स्थान और सुन्दर शहर होने के कारण द्यानतराय ने आगरा को अपने निवास के अनुकूल माना था। द्यानतराय के आविर्भाव से पहले कवि रूपचन्द, बनारसीदास एवं भैया भगवतीदास आगरा को काफी प्रसिद्धि दिला चुके थे। द्यानतराय उक्त विद्वानों के प्रति श्रद्धाभाव रखने के कारण भी आगरा के प्रति लगाव रखते थे।[7] 'सुबोध पंचासिका' एवं 'उपदेश शतक' क्रमशः संवत् 1752 एवं 1758 में आगरा में ही लिखे गये। कवि के कथनानुसार बिहारीदास से प्रेरित होकर धर्मविलास की अपूर्ण प्रति वे आगरा में लिख चुके थे। द्यानतराय प्रौढ़ावस्था में दिल्ली आ गये। कवि का आगरा छोड़कर दिल्ली जाने का कारण चाहे व्यापारिक रहा हो, किन्तु जैनों

की सघन बस्ती एवं अपेक्षाकृत प्रमुख धनी केन्द्र होने के कारण ही द्यानतराय को दिल्लीवासी बना सके।[8]

दिल्ली में गुणज्ञ साहिबराय ने अपूर्ण धर्मविलास में कुछ रचनायें और बढ़वाकर उसे पूर्ण करवाया। द्यानतराय को धर्मविलास की लोकप्रियता के कारण अत्यधिक प्रसन्नता हुई।[9]

5. जन्म–मृत्यु एवं रचनाकाल–द्यानतराय का जन्म गोयल गोत्रीय अग्रवाल वंश में संवत् 1733 में आगरा में हुआ।[10] जॉर्ज कनिंघम ने जमुना के पास प्राप्त प्राचीन जैनमंदिर के अवशेष व सन्मतिनाथ की प्रतिमा के आधार से संवत् 1063 में इसी आगरा को जैनधर्म का प्रमुख स्थान माना है।[11]

द्यानतराय के समय में भी आगरा जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र होने के अतिरिक्त कश्मीरी, गुजराती, मारवाड़ी आदि वर्गों का स्थान था।

द्यानतराय की मृत्यु संबंधी संकेत जगतराम के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'आगमविलास' में मिलते हैं। 63 पृष्ठों के इस ग्रन्थ का प्रारम्भ सं. 1783 विक्रम में द्यानतराय ने किया था, किन्तु इसको जगतराम ने सं. 1784 में मैनपुरी में पूर्ण किया।

दुलीचन्द भण्डार, बड़ा मन्दिर, जयपुर से प्राप्त आगमविलास की प्रशस्ति के संदर्भ में उक्त संकेत दिये हैं।[12] द्यानतराय द्वारा आरम्भ किये गये आगमविलास का सं. 1784 में जगतराम द्वारा पूर्ण किया जाना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि द्यानतराय की मृत्यु सं. 1783 एवं 1784 के मध्य में हुई होगी।

6. द्यानतराय के पूर्वज–कविवर द्यानतराय के पूर्वज हरियाणा में स्थित हिसार एवं लालपुर नगरों में निवास करने के पश्चात् आगरा में रहने लगे थे। इनके पितामह वीरदास का परिवार 'चौकसी' खानदान के नाम से मशहूर था। द्यानतराय के पिता श्यामदास अपनी सम्पन्नता के कारण आगरा एवं शहर के आसपास के गाँवों में 'साहमी' कहलाते थे। द्यानतराय के पूर्वज शुरू से ही जैनधर्म में रुचि रखते थे।[13]

(ख) व्यक्तित्व

द्यानतराय के वैयक्तिक गुणों के बारे में डॉ. ब्रजेश सिंह ने अपने शोध–प्रबन्ध में लिखा है कि वे तन और मन से सुंदर एवं कोमल स्वभाव के

व्यक्ति थे। विनम्रता, सदाशयता, गायनपटुता, धार्मिक सहिष्णुता, आत्मरुचिवन्तता, स्पष्टवादिता एवं परदुःखकातरता उनके स्वभाव के प्रमुख अंग थे। ज्ञान के प्रति उनकी बड़ी जिज्ञासा रही, यही कारण है कि वे बहुत–सी भाषाओं, दर्शनों एवं शास्त्रों के जानकार बने। कवि की धारणा थी कि शास्त्रज्ञान से सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है।[14]

(1) सदाचारी–कवि द्यानतराय जैनधर्म के सच्चे श्रद्धानी थे। उनके जीवन में भी जैनधर्म के सिद्धान्तों का अभूतपूर्व प्रभाव रहा। उनका वास्तविक रूप साधक का था। द्यानतराय करुणावान, स्पष्टवक्ता एवं विनयशील थे। द्यानतराय स्वयं जैनधर्मानुसार आचरण करते थे। जैनधर्म में बताये गये सप्त व्यसनों का त्याग, अष्ट मूलगुणों का पालन एवं प्रतिदिन देवदर्शन के विश्वासी थे तथा रात्रिभोजन त्याग एवं छानकर जल का प्रयोग करते थे। विकट परिस्थितियों में भी कवि ने कभी धर्माचरण से मुख नहीं मोड़ा।[15]

(2) अध्यात्मरसिक–कविवर द्यानतराय को अध्यात्म के प्रति बेहद लगाव था। उनका संपूर्ण साहित्य अध्यात्म अमृत से सराबोर है। उदाहरणस्वरूप उनका यह पद दृष्टव्य है –

मग्न रहूँ रे! शुद्धातम में मगन रहूँ रे! टेक।।
रो दोष पर को उत्पात निहचै शुद्ध चेतना जात।
विधि निषेध को खेद निवारी आप आप में आप निहारी।।
बन्ध मोक्ष विकलप करि दूर आनन्द कन्द चिदातम शूर।
दर्शन–ज्ञान–चरण समुदाय 'द्यानत' यह ही मोक्ष उपाय।।[16]

(3) सहृदय–सहृदयता कवि का विशेष गुण है। यदि कवि सहृदयता से काव्य का सृजन करता है तो पाठक को रसानुभूति होती है। द्यानतराय के काव्य से उनके व्यक्तित्व का सहृदय होना सिद्ध होता है।[17]

(4) विद्वान–कविवर द्यानतराय के साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि वे योग्य व्यक्ति थे। ज्ञान का अक्षयभण्डार उनमें समाहित था। वे काव्य रचना में भी कुशल थे।

(5) गणितज्ञ–द्यानतराय की चर्चा शतक के अध्ययन से हम कह सकते हैं कि जैसा वर्णन उन्होंने गुणस्थानों, मार्गणास्थानों का किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उदाहरण स्वरूप –

चौदह बत्तीस तेतीस छत्तीसे इकतिस इकतिस इकतिस मान।
अट्टाइस अट्टाइस बाइस बाइस बार बीस मैं थान।

चौथे तेरै अन्तिम थानक पंच भाव सिद्धालय जान।
सम्यक् ग्यान दरस बल जीवतनिहचैं सौं तु आप पिछान।।70।।[18]

इसी प्रकार तीन लोक का वर्णन जितनी रोचकता से पद्यमय लिखा है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

तीन लोक का स्वरूप

पूरब पच्छिम सात नर्क तलैं राजू सात,
आगैं घाटा मध्यलोक राजु एक रहा है।
ऊँचैं बढ़ि भयौ ब्रह्म लोक राजु पाँच भया है,
आगैं घाटा अन्त राजु एक सरदहा है।
दच्छिन उत्तर आदि मध्य अन्त राजु सात,
ऊँचा चौदह राजु षट् द्रव्य भरा लहा है।
असंख्यात परदेश भूर लोक कियो भेष।
करै छरै हरै कौन स्वयं सिद्ध कहा है।।8।।[19]

गणित की विषयवस्तु को जिस बारीकी से द्यानतराय ने अपने काव्य में प्रस्तुत किया है, उससे लगता है कि वे एक कुशल गणितज्ञ थे।

(6) गायन–प्रिय–द्यानतराय कवि थे, अतः उनके काव्य में गेयता विद्यमान है। उनका समस्त काव्य छन्दबद्ध है, अतः उसे कण्ठस्थ करने में आसानी रहती है।

द्यानतराय गायक भी थे। कवियों, सन्तों तथा भक्तों के गीत समाज एवं राजदरबार में गाये व सुने जाते थे। द्यानतराय की रचनायें उनके समय में ही गीतरूप में प्रचलित हो गयी थीं। गीत गाने व सुनने से व्यक्ति में ज्ञान एवं गुणों का विकास होता है तथा उसमें कविता रचने की कुशलता आती है। द्यानतराय ने अपने बनाये कवित्तों को गाया एवं सबको सुनाया।

कवित्त बनाये सबनि सुनाये, मन आए गाये गुण ग्यान।[20]

(7) निरभिमानी–द्यानतराय अत्यन्त निरभिमानी व्यक्ति थे, इसलिए वे उत्कृष्ट काव्य की रचना करने वाले कवि होकर भी अपने आपको अल्प बुद्धिवाला सामान्य मानव ही मानते हैं। वे लिखते हैं –

ओंकार मँझार पंच परम पद वसत हैं।
तीन भुवन में सार, बंदौं मनवचकाय सौं।।
अच्छर ज्ञान न मोहि, छन्द भेद समझूँ नहीं।
बुधि थोड़ी किम होई, भाषा अच्छर बाबनी।।[21]

इसी तरह उनकी दृष्टि में चर्चाशतक की रचना का उद्देश्य अभिमान या सम्मान की चाह नहीं है, अपितु स्वपर का कल्याण करना है –

चरचा मुख सौं भनै सुनै प्रानी नहीं कानन।
केई सुनि घर जाहीं नाहीं भाखे फिरि आनन।।
तिनि को लखि उपगार सार यह शतक बनाई।
पढ़त सुनत ह्वै बुद्धि शुद्ध जिनवाणी गाई।।
इसमैं अनेक सिद्धान्त कौ, मन्थन कथन द्यानत कहा।
सब माहीं जीव को नाम है, जीव भाव हम सरदहा।।

(8) **आत्मचिन्तक**—द्यानतरायजी आत्मचिन्तक, मोक्षाभिलाषी कवि थे, उनके काव्य को पढ़कर यही प्रतीत होता है कि वे आत्मकल्याण के लिए आत्मा को जानना, पहचानना और उसमें लीन होने को ही कार्यकारी मानते हैं। उन्होंने समस्त विकल्पों का त्याग कर एकमात्र आत्मा का चिन्तन करने पर जोर दिया है, क्योंकि आत्मकल्याण के लिए एकमात्र कारण स्वयं को जानना, पहचानना एवं तन्मय होना ही है।[22]

(9) **भक्त एवं गुणानुरागी**—द्यानतराय भक्त एवं गुणानुरागी हैं। वे अपने आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पित हैं। उनके आराध्य अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, जिनवाणी और जिनधर्म आदि हैं; इसलिए वे उन सबके प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए स्तुति करते हैं। वे स्वयं को अज्ञानी मानकर तीर्थंकर, मुनिराजों को ज्ञानी मानकर उनकी श्रद्धा में भक्ति के गीत गाते हैं –

प्रथम देव अरहन्त सुश्रुत सिद्धान्त जु,
गुरु निरग्रन्थ महन्त मुकतिपुर पन्थ जू।
तीन रतन जगमाहिं सु ये भवि ध्याइये,
तिनकी भक्ति प्रसाद परम पद पाइये।।
पूजौं पद अरहन्त के, पूजौं गुरु पद सार।
पूजौं देवी सरस्वती, नित प्रति अष्ट प्रकार।।[23]

रत्नत्रय का स्वरूप एवं भक्ति व्यक्त करते हुए द्यानतराय लिखते हैं—

सम्यक् दर्शन ज्ञान, व्रत शिवमग तीनों मयी।
पार उतारन यान, द्यानत पूजौं व्रत सहित।।
सम्यक् दर्शन ज्ञान व्रत, इन बिन मुक्ति न होय।
अन्ध पंगु अरु आलसी, जुदे जले दव लोय।।[24]

द्यानतराय का आन्तरिक व्यक्तित्व सांसारिकता से परे आत्मोन्मुखी है। वे आत्महित के प्रति पूर्णतया जागरूक एवं सावधान हैं इसलिए संसार भोगों से विरक्त होकर दृष्टि को अन्तर्मुख करने की बात करते हैं –

ऐश्वर्य रु आश्रित नैना
जब लौं तेरी दृष्टि फिरै ना।
जब लौं तेरी दृष्टि सवाई
कर धर्म अगाऊ भाई।।[25]

(10) विनम्र–द्यानतराय विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। विनम्रता उनमें कूट–कूट कर भरी थी; इसीलिए वे अपने आराध्य के प्रति तो विनम्रता प्रदर्शित करते हुए स्तुति करते ही हैं; अपितु सभी जैनाचार्यों एवं विद्वानों आदि के प्रति अहंकार छोड़कर विनम्रता प्रदर्शित करते हैं –

यह भावना–उत्तम सदा, भाऊं सुनौ जिनराय जी।
तुम कृपानाथ अनाथ द्यानत, दया करनी न्याय जी।।[26]

कवि द्यानतराय प्रकाण्ड विद्वान एवं व्याकरण के पाठी होकर भी अपनी विनम्रता इस प्रकार प्रकट करते हैं और बुद्धिमानों से क्षमा करने तथा भूल सुधारने की प्रार्थना करते हैं–

पिंगल न पढ़यौ नहीं देखी नाममाला कोऊ,
व्याकरण काव्य आदि एक नाहिं पढ़्यौ है।
आगम की छाया लैकैं अपनी सकति सार
सैली के प्रभाव सेती स्वर कोट गढ़्यौ है।
अच्छर अरथ छंद जहाँ जहाँ भंग होय,
तहाँ तहाँ लीजै सोध ग्यान जिन्है बढ़्यौ है;
वीतराग थुति कीजै साधरमी संग लीजै,
आगम सुनीजै पीजै ग्यानरस कढ़्यौ है।।[27]

(11) मृदुभाषी–द्यानतराय विनम्र होने के साथ–साथ मृदुभाषी भी थे। इसीलिए कठोर बोलने वालों को समझाते हुए कहते हैं कि –

निज शत्रु जो घरमाहिं आवै, मान ताकौ कीजियै।
अति ऊँच आसन मधुर वानी, बोलिकैं जस लीजियै।।
भगवान सुगुन–निधान मुनिवर, देखि क्यौं नहिं हरखियै।
पड़गाही लीजै दान दीजै, भगति बरखा बरखियै।।[28]

(12) **विचारशील**–द्यानतराय एक विचारशील व्यक्ति थे; वे योग्य और अयोग्य का विचार करके ही कोई कार्य करते थे; तत्त्व चर्चा और तत्त्व निर्णय के सम्बन्ध में भी वे विचार कर निर्णय करने की बात कहते हैं। उन्होंने अपने पदों द्वारा संसारी जीवों को संसार की असारता पर विवेक–विचार करने को प्रेरित किया है। जैसा कि उन्होंने लिखा है–

तू तो समझ–समझ रे भाई!
निशिदिन विषय भोग लपटाना, धरम वचन न सुहाई।।[29]

इसी प्रकार प्रतिकूलताओं में भी मनुष्य को कैसा विवेक–विचार करना चाहिए, उसके लिए वे लिखते हैं कि –

काहे को सोचत अति भारी रे मन।। काहे।।
पूरब करमन की थित बांधी, सो तो टरत न टारी।। काहे।।
सब दरबनि की तीन काल की, विधि न्यारी की न्यारी।
केवलज्ञान विषैं प्रतिभासी, सो–सो ह्वै है सारी।। काहे।।[30]

(13) **धार्मिक**–द्यानतराय का जीवन अत्यन्त धार्मिक था। उनके अनुसार मानव जीवन की सार्थकता धर्म को आत्मसात् कर धार्मिक बनने में ही है। धर्म प्राप्ति के लिये हिंसादिं (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि) का त्याग आवश्यक है। साथ ही मद्य–मांस से बचाव एवं पर निन्दा और आत्म प्रशंसा का त्याग भी जरूरी है। देव पूजा आदि षट्कर्मों का पालन एवं साधु–पुरुषों की संगति भी धार्मिक चित्त के लिए अनिवार्य है। सच्चे देव–शास्त्र–गुरु, धर्म आदि को जानकर उन पर श्रद्धान करना, उनके बताए मार्ग पर चलना प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जैसा कि द्यानतरायजी ने लिखा है –

रे मन! भज–भज दीन दयाल।। रे मन।।
जाके नाम लेत इक छिन मैं, कटैं कोट अधजाल।। रे मन।।
परम ब्रह्म परमेश्वर स्वामी, देखैं होत निहाल।
सुमरन करत परम सुख पावत, सेवत भाजै काल।। रे मन।।
इन्द्र फनिन्द्र चक्रधर गावैं, जाको नाम रसाल।
जाको नाम ज्ञान परकासै, नाशै मिथ्याजाल।। रे मन।।
जाके नाम समान नहीं कछु, ऊरध मध्य पाताल।
सोई नाम जपो नित 'द्यानत' छांड़ि विषय विकराल।। रे मन।।[31]

(14) हिंसा एवं वैर के विरोधी– कविवर द्यानतराय हिंसा एवं वैर के विरोधी थे; इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में छह काय के जीवों पर दया रखने की बात की है, वे छहकाय के जीवों की हिंसा का निषेध करते हुए लिखते हैं कि –

वे ते चौ इंद्री त्रिविध, परज अपरज अलब्ध।
विकलत्रैकै भेद नव, हिंसा करै निषिद्ध।। 8।।[32]

इसी प्रकार ज्ञानी जीवों द्वारा पाली जाने वाली अहिंसा की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि –

ज्ञानी जीव दया नित पालैं।। ज्ञानी।।
आरम्भतैं परघात होत है, क्रोध घात निज टालैं।। ज्ञानी।।
हिंसा त्यागी दयालु कहावै, जलै कषाय बदन में।
बाहिर त्यागी अन्तर दागी, पहुँचे नरक सदन में।। ज्ञानी।।[33]

इसी तरह वे वैर भाव को संसार दुःख का कारण तथा मैत्री भाव को सुख का कारण मानते हुए वैर छोड़कर मित्रता करने का उपदेश देते हैं –

पीडैं दुष्ट अनेक, बाँध मार बहुविधि करैं।
धरिये छिमा विवेक, कोप न कीजै पीतमा।।
उत्तम छिमा गहो रे भाई, इह–भव जस पर भव सुखदाई।
गाली सुनि मन खेद न आनो, गुन को औगुन कहै अयानो।।
कहि है अयानो वस्तु छीनै, बाँध मार बहुविधि करै।
घर तैं निकारै तन विदारै, वैर जो न तहाँ धरै।।
ते करम पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा।
अति क्रोध–अगनि बुझाय प्रानी, साम्य–जल ले सीयरा।।[34]

द्यानतराय की दृष्टि में मनुष्य जीवन की सार्थकता धर्म पालन करने में है। बिना धार्मिक कृत्यों के मानव जीवन व्यर्थ गँवाना ठीक नहीं है। मानव शरीर के प्रत्येक अंग की सार्थकता धर्म सेवन एवं उसके निमित्तभूत जिनकथा के श्रवण, पठन, कथन आदि में ही है।

इस प्रकार द्यानतराय का ब्राह्य व्यक्तित्व अर्थात् शारीरिक संगठन अज्ञात है, परन्तु उनकी रचनाओं द्वारा उनके आन्तरिक व्यक्तित्व अर्थात् मानसिक स्थिति आदि का ज्ञान भलीभाँति हो जाता है। उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को समझने के लिए उनकी कृतियों में आई हुई उपर्युक्त वे सभी पंक्तियाँ सहायक हैं जिनमें उनके मनोभावों एवं विचारों की झलक मिलती है।

कवि द्यानतराय की रचनाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि कवि महान विद्वान, प्रवचनकार, समाधानकर्ता, भक्त, गुणानुरागी, अध्यात्मरसिक, निरभिमानी, विनम्र, मिष्टभाषी, जिज्ञासु, धैर्यवान,धार्मिक, नैतिक, सदाचारी, विरक्त एवं आत्मोन्मुखी वृत्तिवाले महापुरुष है। उनके व्यक्तित्व में अनेक गुण परिलक्षित होते हैं। वे समस्त गुण उनको सामान्य व्यक्तित्व से उठाकर असामान्य महापुरुष के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। महान व्यक्तित्व को लिए हुए महाकवि द्यानतराय जहाँ एक ओर धार्मिक और नैतिक आदर्शों की बात करते हैं, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक बुराइयों और दुर्बलताओं पर भी करारी चोट करते हैं। वे तत्कालीन समाज में व्याप्त जुआ, मांसभक्षण, मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्रीसेवन, चौर्यवृत्ति, आखेट एवं पशु बलि आदि के दोष निरूपित करते हैं तथा समाज में व्याप्त ईर्ष्या, द्वेष, छल, प्रपंच, हिंसा आदि को छोड़ने एवं प्रेम, सरलता अहिंसा आदि को अपनाने पर बल देते हैं।

कवि द्यानतराय का जीवन धार्मिक, नैतिक एवं सदाचारयुक्त था। वे आत्महित के प्रति सतत् जागरूक थे। उनमें आध्यात्मिक चेतना उन्नत थी। अपनी आध्यात्मिक समुन्नत चेतना को उन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वत्र स्थान दिया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि द्यानतरायजी जिनदेव, जिनशास्त्र, जिनगुरु एवं जिनधर्म से प्रभावित थे और इन सबसे प्रभावित होकर ही उन्होंने जिनागम की आम्नाय अनुसार समस्त रचनाएँ की हैं।

सन्दर्भ सूची

1. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
2. द्यानतराय संग्रह, पद–90
3. पूरण पंचासिका, पद–38
4. पूरण पंचासिका, पद–32
5. पूरण पंचासिका, पद–38
6. उपदेश शतक, पद–40
7. धर्म विलास, प्रशस्ति, पद–30
8. धर्मविलास प्रशस्ति–39
9. पूरण पंचासिका, पद–33
10. पूरण पंचासिका, पद–36
11. अनेकान्त पत्रिका, पृष्ठ – 240
12. जैन ग्रन्थ भण्डार, जयपुर, ए. डी. नागौर, पृ.–11

13. पूरण पंचासिका, पद–36
14. जैन कवि द्यानतराय का भक्ति काव्य, डॉ. बिजेन्द्र सिंह
15. पूरण पंचासिका, पद–40
16. द्यानतराय कृत द्यानत विलास, पृष्ठ–17, पद–39
17. द्यानत विलास, पृष्ठ–21, पद–48
18. चरचाशतक, पृष्ठ–167, श्लोक–70
19. द्यानतराय कृत चरचाशतक, पृष्ठ–16, पद–8
20. द्रव्यादि चौबीस पच्चीसी, पद–25
21. सुबोध पंचासिका, पद–192
22. द्यानतराय कृत द्यानतविलास, पद–2
23. द्यानतराय कृत देव–शास्त्र–गुरु पूजन
24. द्यानतराय कृत सम्यक्चारित्र पूजन
25. द्यानतराय कृत छहढाला, दूसरी ढाल–13
26. द्यानतराय कृत धर्म–चाह गीत
27. द्यानतराय कृत उपदेशक शतक, पद–119
28. द्यानतराय कृत, दान बावनी, 27
29. द्यानतराय कृत, द्यानत–पद संग्रह
30. द्यानतराय कृत, द्यानत–पद संग्रह, पद 8
31. द्यानतराय कृत, द्यानतविलास, पद–67
32. चार सौ छह जीव समास
33. द्यानतराय कृत, द्यानतपद संग्रह, पद–83
34. द्यानतराय कृत, दशलक्षण पूजन

लोभ महादु:खदाई

जिय को लोभ महादु:खदाई, जाकी शोभा बरनी न जाई।
लोभ करै मूरख संसारी, छांडै पण्डित शिव अधिकारी।।
तजि घरवास फिरै वन मांहीं, कनक कामिनी छांडै नाहीं।
लोक रिझावन को व्रत लीना, व्रत न होय ठगई सा कीना।।
लोभवशात् जीव हत डारै, झूठ बोल चोरी चित धारै।
नारि गहै परिगृह विसतारै, पांच पापकर नरक सिधारै।।
जोगी जी गृही वनवासी, वैरागी साधू संन्यासी।
अजस खान जसकी नहिं रेखा, 'द्यानत' जिनकै लाभ विशेषा।।

द्वितीय अध्याय
द्यानतराय का कर्तृत्व

(क) रचनाओं का वर्गीकरण एवं परिचयात्मक अनुशीलन–

कविवर द्यानतराय आध्यात्मिक कोटि के सुकवि थे। उन्होंने जिनदेव, जिनगुरु, जिनशास्त्र और जिनधर्म से प्रभावित होकर साहित्य का सृजन किया। उनमें प्रायः सभी रचनाएँ विभिन्न संस्थाओं द्वारा प्रकाशित हैं। उनकी मुख्य कृति द्यानतविलास में छोटी–बड़ी सभी रचनायें आ जाती हैं, जिसका प्रकाशन श्री जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई द्वारा हुआ है। जिसका प्रथम प्रकाशन फरबरी, 1914 में हुआ था। द्यानतविलास की विशेषता में जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता से प्रकाशित द्यानतविलास पुस्तक की प्रस्तावना में कहा गया है कि 'उनकी द्यानतविलास नाम की एक विशाल रचना उपलब्ध है, जिसमें उनकी छोटी–बड़ी समस्त रचनाएँ संग्रहीत हैं। उसकी रचना आगरा में आरम्भ हुई और दिल्ली में 1770 में समाप्त हुई।'

उनकी अन्य कृति चरचाशतक प्रकाशित है, जिसका प्रकाशन अलग–अलग जैन संस्थाओं ने किया है। चर्चाशतक वी. नि. सं. 2482 में सरस्वती भण्डार चुरुकों का रास्ता, जयपुर से प्रकाशित है। उनकी सभी आध्यात्मिक पूजनें जिनेन्द्र–अर्चना एवं वृहद् जिनवाणी संग्रह में संग्रहित हैं, जो कि 'अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर' द्वारा प्रकाशित है। उनकी कृति द्यानतविलास का सम्पादन श्री नाथूराम प्रेमी ने किया था एवं उन्होंने श्री जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई से प्रकाशित करवाया। जिसमें द्यानतराय के पदों का संग्रह जिसका नाम जैन पद–संग्रह (चौथा भाग), प्राकृत द्रव्यसंग्रह का पद्यानुवाद, चरचाशतक आदि हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रायः उनकी सभी कृतियों का प्रकाशन हुआ है। उनकी कृति द्यानतविलास की हस्तलिखित प्रति मुझे बड़े दीवानजी का मन्दिर, जयपुर से प्राप्त हुई, जिसकी छायाप्रति यहाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है।

काव्य के भेदों में जायें तो हिन्दी काव्य शास्त्रों में काव्य के दो भेद मिलते हैं – **1. गद्य काव्य** एवं **2. पद्य काव्य।**

द्यानतरायजी की कोई भी कृति गद्य में उपलब्ध नहीं है। उनका

सम्पूर्ण साहित्य पद्यात्मक है। पद्य में भी मुक्त काव्य ही मिलता है। मुक्त काव्य के अन्तर्गत–द्रव्यादि चौबोल–पच्चीसी, विवेक–बीसी, सुखबत्तीसी, ज्ञानदशक, दशबोल–पच्चीसी, जिनगुणमाल–सप्तमी, समाधिमरण भाषा, तिथि–षोडशी, यति– भावनाष्टक, वर्तमान–चौबीसी–दशक, अध्यात्मपंचासिका, आठगण–छन्द, धर्मचाह–गीत, आदिनाथ–स्तुति, जुगल–आरती, वाणीसंख्या, षड्गुणी–हानि–वृद्धि, अक्षरबावनी, पल्ल–पच्चीसी, सरधा–चालीसी, भक्तिदशक, दर्शन–दशक, धर्मरहस्य–बावनी, दशस्थान–चौबीसी, एकीभावस्तोत्र–भाषा, स्वयंभूस्तोत्र–भाषा, पार्श्वनाथस्तवन, स्तुतिबारसी, आरती–दशक, उपदेश–शतक, सुबोध–पंचासिका, धर्म–पच्चीसी, व्यसनत्याग–षोडश, दान–बावनी, व्यौहार–पच्चीसी, आलोचनापाठ, शिक्षा–पंचासिका, सज्जनगुण–दशक, नेमिनाथ–बहत्तरि, वैराग्य–छत्तीसी, वज्रदन्त–कथा, आगमविलास, द्यानतविलास, चरचा–शतक, भावना स्तोत्र पद–संग्रह आदि आते हैं।

यद्यपि द्यानतराय की सम्पूर्ण रचनाओं को खोजने हेतु राजस्थान एवं उत्तरप्रदेश के अनेक शास्त्रभण्डारों को देखा गया है, अनेक विद्वानों से सम्पर्क किया गया है; चर्चाएँ की गयी हैं, तथापि भविष्य में द्यानतराय की अन्य किसी फुटकर रचना की उपलब्धता से इनकार नहीं किया जा सकता है।

चरचाशतक– यह सौ पद्यों का करणानुयोग को व्याख्यायित करने वाला मुक्तक काव्य है। संख्या परक कृतियों में उसमें आने वाली निश्चित संख्या से कुछ अधिक पद्यों को रचने का प्रचलन रहा है, जैसे बिहारी सतसई आदि। कवि द्यानतराय ने भी चरचाशतक में सौ से अधिक पद्य रचे हैं। चरचाशतक की कई मुद्रित प्रतियाँ देखने में आयी हैं, उसमें सरस्वती भण्डार चुरुकों का रास्ता, जयपुर; गीता देवी वीरचन्द जैन, जूनापीठा, मेन रोड, इन्दौर– दोनों ही प्रतियों में 104 पद्य ही मिलते हैं। अतः 104 पद्य ही मान्य हैं। सरस्वती भण्डार, जयपुर से प्रकाशित चरचाशतक के आमुख लेखन में इसकी प्रशंसा में लिखा है कि –

"चरचाशतक द्यानतराय का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। सूत्र रूप से किसी बात को समझाना और सरलतम भाषा का उपयोग रचना के महत्त्व को द्विगुणित कर देता है। तत्कालीन जनता को इस ग्रन्थराज से अवश्य अत्यन्त लाभ हुआ होगा; क्योंकि कठिन से कठिन विषय को भी उन्होंने

साररूप में अत्यन्त सुन्दर व सुव्यवस्थित रूप में लिखा है। अतः कण्ठाग्र करने में बड़ी सुविधा रहती है। आज भी अनेक व्यक्तियों को इसके अंश याद हैं, जो इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।"

कम से कम शब्द, सरल भाषा, मनहर पद, छन्द और अलंकारों के सौष्ठव से युक्त कवि की यह रचना जो अपना साहित्यिक महत्त्व रखती है, वह हिन्दी साहित्य के कवियों में दुर्लभ है करणानुयोग के शुष्क एवं जटिल विषय पर लेखनी चलाकर उसे सफलता के साथ कविताबद्ध करने का कवि का साहस अत्यन्त श्लाघनीय है।[1]

चरचाशतक में साहित्यिक सौन्दर्य की अभिश्री मन्दाकिनी तरंगित सरिता की भाँति निरंतर प्रवाहित प्रतीत होती है, साथ ही इस अभिनव अभिव्यक्ति के पृष्ठ में सैद्धान्तिक तथ्य का सुदृढ़ गढ़ भी है। धार्मिक मान्यतायें और पूर्वाचार्यों के ज्ञानालोक में जो प्रतिभासित सामग्री इसमें है, वह आधुनिक विज्ञान के युग में चाहे हमारे मस्तिष्क में न उतरे, तथापि इससे इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। यह युग विज्ञान का है, आत्मज्ञान का नहीं। जिसके अभाव में मानव अज्ञान अन्धकार में डूब रहा है। जो कुछ इस पुस्तक में है, वह विज्ञान की वस्तु नहीं, इसके परे इसकी पहुँच के बाहर की है। हमारी ससीम शक्तिवाली आँखें वहाँ तक नहीं पहुँच सकतीं; अतएव आज के युग में यह तर्क की अपेक्षा श्रद्धा की वस्तु अधिक है।

चरचाशतक में भारतीय परम्परा के अनुरूप मंगलाचरण से ग्रंथराज का प्रारंभ होता है। अपने इष्ट की स्तुति के द्वारा कवि उसकी विशिष्टताओं का वर्णन करता है। वह लक्षणहीन इष्ट नहीं मानता। उसके इष्ट का मापदण्ड एक कसौटी है, जिसे वह गुणों के रूप में व्यक्त करता है और उसकी वन्दना कर अपना कल्याण समझता है। संपूर्ण लोकालोक जिनके ज्ञान में झलकता है – ऐसे श्री अरहंत को नमस्कार कर कवि लोक–अलोक का वर्णन क्रमशः करता है। उनके घनफल स्वरूप आदि पर, 06 काल, 14 गुणस्थान, कर्मों की 148 प्रकृतियाँ, मानुषोत्तर पर्वत का परिमाण, 169 प्रधान पुरुष, पंच त्रिभंगी आदि विषयों पर प्रकाश डालता है।[2]

अंक गणना के प्रकार वैशिष्ट्य को समझाते हुए उन्होंने 11 भेद किये हैं। तीन लोक के अकृत्रिम चैत्यालयों और अढ़ाई द्वीप के ज्योतिष मंडल आदि का भी वर्णन किया गया है।[3] आयु कर्म बंध के नौ भेद, प्रमाद

के भेद, गुणस्थानों के गमनागमन आदि विषयों को भी कवि ने स्पष्ट किया है। सातों नरक, सोलह स्वर्ग, चौरासी लाख योनियाँ, तिरेसठ कर्म–प्रकृतियाँ, आस्रव, उदय, उदीरणा आदि की एक तालिका–सी दी है, जो कवि के असाधारण ज्ञान एवं विद्वत्ता का परिचायक है।

104 पदों वाली इस कृति में प्रत्येक पद पृथक्–पृथक् विषय को लिये हुए हैं। इस तरह प्रत्येक छन्द स्वयं में स्वतंत्र एवं पूर्ण है तथा उसे किसी दूसरे पूर्वापर छंद की अपेक्षा नहीं है।

शतक की परंपरा के अनुसार शतक काव्य में एक ही विषय पर एक ही जाति के 100 या उससे अधिक छंद होना चाहिए[4], परन्तु द्यानतराय के चर्चाशतक में ऐसा नहीं है; अतः उसे शतक काव्य न मानकर प्रघट्टक[5] काव्य मानना चाहिए। फिर भी कवि के विषय एवं वर्णन के अनुसार चर्चाशतक–शतक परम्परा की महत्त्वपूर्ण कृति है।

उपदेश शतक–यह 121 पद्यों का स्तुति, नीति एवं वैराग्य को प्रदर्शित करने वाला मुक्त काव्य है। इस कृति में भी द्यानतराय ने 100 से अधिक पद्य रचे हैं। इस काव्य में प्रत्येक छन्द स्वयं में स्वतन्त्र एवं पूर्ण है तथा उसे किसी दूसरे पूर्वापर छन्द की अपेक्षा नहीं है। इसमें द्यानतराय ने जैनधर्म और उससे सम्बन्धित स्तुति, नीति, उपदेश एवं वैराग्य आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें दिए गए विषय का परिचय निम्नानुसार है –

प्रथम छन्द में तीर्थंकर स्तुति फिर चार अनन्त चतुष्टय सहित, चार घातिकर्म रहित, चार मुखवाले अरहन्त परमात्मा को नमन किया है। इस प्रकार क्रमशः सर्वज्ञ–परमात्मा, सिद्ध भगवान, आदिनाथ भगवान, दर्शन की स्तुति, वर्तमान चौबीसी एवं साधुओं, पंच परमेष्ठियों के वर्णन में 25 पद मंगलाचरण के रूप में लिखे गये हैं।

26 से 29वें पद में व्यवहार हितोपदेश का वर्णन किया है। 30 से 34वें पद में संसार की असारता का वर्णन किया है। 35वें श्लोक में धर्म की महिमा का वर्णन, 36 से 39वें पद में अपने स्वरूप को भूलकर भटकने की बात की गई है। 40 से 43वें पद में द्यानतरायजी ने अपने दुःख का वर्णन किया है। 44 से 45वें पद में उपदेश दिया गया है। 46वें पद में जीव के वैरी का वर्णन एवं 47वें पद में वैर दूर करने का उपाय बताया है। 48 से 49वें पद में नरक–निगोद के दुःख का वर्णन एवं निगोद के छत्तीस कारणों का वर्णन किया है। 50 से 51वें पद में नरक दुःख का वर्णन, 52 से 53वें पद

में पुण्य–पाप का वर्णन, 54 से 57वें पद में मिथ्यादृष्टि का वर्णन किया है। 58वें पद में वीतरागस्तुति, 59वें पद में धर्म का महत्त्व, 60वें पद में पुनः मिथ्यादृष्टि–वर्णन, 61वें पद में सम्यग्दृष्टि की इच्छा का वर्णन किया गया है।

शेष पदों में व्यवहार सम्यक्त्व तथा निश्चय सम्यक्त्व का वर्णन, उद्यम का वर्णन, ज्ञानी चिन्तवन, ज्ञानी का बल वर्णन, मिथ्यात्वादि सिद्धपर्यन्त अवस्थाएँ, सर्वगुरु–स्तुति, मूढ़दशा वर्णन, जीव की पूर्वदशा, ज्ञानवर्णन, षट्द्रव्य कथन, नवतत्त्व स्वरूप का वर्णन, बीस स्थानों के नाम, सुबुद्धि वचन, जिनस्तुति वर्णन, जीव के नव दृष्टान्त वर्णन, हर्ष–शोकजय मन्त्र, ज्ञानी महिमा आदि अनेक विषयों का निरूपण किया है।

(ख) द्यानतराय का पूजा साहित्य–

पूजन का अर्थ, आवश्यकता व महत्त्व

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने।।[6]

देवपूजा, गुरु–उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान–ये छह आवश्यक कार्य गृहस्थों को प्रतिदिन करना चाहिए। यह पावन आदेश आचार्य पद्मनंदी का है।

भक्ति-पूजा का स्वरूप दर्शाते हुए आचार्य अपराजित लिखते हैं –

'का भक्तिपूजा? अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः। पूजा द्विप्रकारा – द्रव्यपूजा भावपूजा चेति। गंधपुष्पधूपाक्षतादीनामर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा अभ्युथानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च वाचा गुणसंस्तवनं च। भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणम्।[7]

द्रव्यपूजा व भावपूजा के संबंध में पंडित सदासुखदासजी लिखते हैं –

'अरहंत के प्रतिबिंब का वचन द्वार से स्तवन करना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना, अंजुलि मस्तक चढ़ाना, जल–चंदनादिक अष्ट द्रव्य चढ़ाना; सो द्रव्यपूजा है। अरहंत के गुणों में एकाग्रचित्त होकर, अन्य समस्त विकल्प छोड़कर गुणों में अनुरागी होना तथा अरहंत के प्रतिबिंब का ध्यान करना; सो भावपूजा है।[8]

उक्त कथन में एक बात अत्यंत स्पष्ट रूप से कही गयी है कि अष्ट द्रव्य से की गयी पूजन तो द्रव्य पूजन है ही; साथ ही देव–शास्त्र–गुरु की

वंदना करना, नमस्कार करना, प्रदक्षिणा करना, स्तुति करना आदि क्रियाएँ भी द्रव्यपूजन है।

इस सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र का निम्न कथन दृष्टव्य है –

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।

तथापि ते गुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरिताज्जनेभ्यः।।[9]

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान वीतरागी हैं; अतः उन्हें अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है। वैर रहित हैं; अतः निंदा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। तथापि उनके गुणों का स्मरण पापियों के पाप रूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है।

कुछ लोग जिन–पूजा को प्रकारांतर से भोग सामग्री से जोड़ देते हैं, किन्तु उक्त छंद में तो अत्यंत स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उनकी भक्ति से भक्त का मन निर्मल हो जाता है। मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा, जिनभक्ति का सच्चा फल है। ज्ञानीजन तो अशुभभाव और तीव्र राग से बचने के लिए ही भक्ति करते हैं। इस संदर्भ में आचार्य अमृतचंद्र की निम्नांकित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

"अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्ध्वास्पदस्यास्थानरागनिशेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचित् ज्ञानिनोऽपि भवतीति।"

इस प्रकार का राग मुख्य रूप से मात्र भक्ति की प्रधानता और स्थूल लक्ष्य वाले अज्ञानियों को होता है। उच्च भूमिका में स्थिति न हो तो तब तक अस्थान का राग रोकने अथवा तीव्र रागज्वर मिटाने के हेतु से कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है।[10]

उक्त दोनों कथनों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि आचार्य अमृतचंद्र तो कुस्थान में राग के निषेध और तीव्र रागज्वर निवारण की बात कहकर नास्ति से बात करते हैं और उसी बात को आचार्य समंतभद्र चित्त की निर्मलता की बात कहकर अस्ति से कथन करते हैं। इस प्रकार पूजन एवं भक्ति का भाव मुख्य रूप से अशुभ राग व तीव्र राग से बचाकर शुभ राग व मंद राग रूप निर्मलता प्रदान करता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि भक्ति और पूजन का भाव मुख्य रूप से शुभ भाव है, तथापि ज्ञानी धर्मात्मा मात्र शुभ की प्राप्ति के लिए पूजन–भक्ति नहीं करता। वह

जिनेन्द्र की मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान जिनेन्द्र देव को एवं उनके माध्यम से निज परमात्म स्वभाव को जान–पहचान कर उसी में रमना चाहता है।

तिलोयपण्णति आदि ग्रंथों में सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणों में जिनबिंब दर्शन को भी एक कारण बताया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनपूजा अशुभ भाव से बचने के साथ–साथ सम्यक्त्वोत्पत्ति, भेदविज्ञान, आत्मानुभूति एवं वीतरागता की वृद्धि में भी निमित्तभूत हैं। स्तुतियों और भजनों की निम्न पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है –

तुम गुण चिंतत निज पर विवेक प्रकटैं विघटैं आपद अनेक।
जय परम शांत मुद्रा समेत भविजन को निज अनुभूति हेत।।[11]

इस संदर्भ में निम्नांकित भजन की पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं –

निरखत जिन चंद्रवदन स्वपद सुरुचि आयी।
प्रकटी निज आन की पिछान ज्ञान भान की।
कला उदोत होत काम जामिनी पलायी।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनेन्द्र भगवान का भक्त भोगों की वांछा नहीं रखता है, साथ में उसकी भावना मात्र शुभभाव की प्राप्ति की भी नहीं होती। वह तो एकमात्र वीतरागभाव का ही इच्छुक होता है, तथापि उसे पूजन और भक्ति के काल में सहज हुए शुभभावानुसार पुण्यबंध भी होता है और तदनुसार आत्मकल्याण के निमित्तभूत पारमार्थिक अनुकूलतायें व अन्य लौकिक अनुकूलतायें भी प्राप्त होती हैं।

पूजक पूजा करते समय विचार करता है कि अहो! मैं भी तो स्वभाव से परमात्मा की भाँति ही अनंत असीम शक्तियों का संग्रहालय हूँ, अनंत गुणों का गोदाम हूँ। मेरा स्वरूप भी तो सिद्ध सदृश ही है। मैं स्वभाव की सामर्थ्य से सदा भरपूर हूँ। मुझमें परलक्ष्यी ज्ञान के कारण जो मोह–राग–द्वेष हो रहे हैं, वे दुःख रूप हैं। इस प्रकार सोचते–विचारते उसका ध्यान जब भगवान की पूर्व पर्यायों पर जाता है, तब उसे ख्याल आता है कि जब शेर जैसा क्रूर पशु भी कालांतर में परमात्मा बन सकता है तो मैं क्यों नहीं बन सकता? सभी पूज्य परमात्मा अपनी पूर्व पर्यायों में तो मेरे जैसे ही पामर थे। जब वे अपने त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर परमात्मा बन गये तो मैं भी अपने स्वभाव के आश्रय से पूर्णता और पवित्रता प्राप्त कर परमात्मा बन सकता हूँ।

इस प्रकार की चिन्तनधारा ही भक्त को जिनदर्शन से निजदर्शन कराती है—यही आत्मदर्शन होने की प्रक्रिया है, पूजन की सार्थक प्रक्रिया है।

यद्यपि पूजा स्वयं में एक रागात्मक वृत्ति है, तथापि वीतराग देव की पूजा करते समय पूजक का लक्ष्य यदा—कदा अपने वीतराग स्वभाव की ओर भी झुकता है। बस, यही पूजा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

पूजा में शुभराग की मुख्यता रहने से पूजक अशुभरागरूप तीव्रकषायादि पाप परिणति से बचा रहता है तथा वीतरागी परमात्मा की उपासना से सांसारिक विषय वासना के संस्कार भी क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और स्वभाव—सन्मुखता की रुचि से आत्मबल में भी वृद्धि होती है; क्योंकि रुचि अनुयायी वीर्य स्फुरित होता है। अन्ततोगत्वा पूजा के रागभाव का भी अभाव करके पूजक वीतराग सर्वज्ञ पद प्राप्त कर स्वयं पूज्य हो जाता है। इसी अपेक्षा से जिनवाणी में पूजा को परम्परा से मुक्ति का कारण कहा गया है।[13]

निश्चय पूजा

निश्चय से तो पूज्य—पूजक में कोई भेद ही दिखाई नहीं देता। अतः इस दृष्टि से तो पूजा का व्यवहार ही सम्भव नहीं। निश्चयपूजा के संबंध में आचार्यों ने विभिन्न मन्तव्य प्रगट किये हैं। आचार्य योगीन्दुदेव लिखते हैं —

मणु णमिलिययु परमेसरहं परमेसररु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हुबाहँ पूज्ज चढ़ावहु कस्स।।[14]

विकल्परूप मन भगवान आत्मा से मिल गया, तन्मय हो गया और परमेश्वर स्वरूप भगवान आत्मा भी मन से मिल गया। जब दोनों ही समरस हो गये तो अब कौन किसकी पूजा करे? अर्थात् निश्चयदृष्टि से देखने पर पूज्य—पूजक का भेद ही दिखायी नहीं देता तो किसको अर्घ्य चढ़ाया जाये?

इसी तरह आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं —

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।[15]

स्वभाव से जो परमात्मा हैं, वही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं।

इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य ने अभेदनय से इसप्रकार कहा है —

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।[16]

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये जो पंच परमेष्ठी हैं, वे आत्मा में ही चेतन रूप हैं, आत्मा की ही अवस्थायें हैं। इसलिए मेरे आत्मा ही का मुझे शरण है।

व्यवहार पूजा : भेद—प्रभेद

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव; पूज्य—पूजक, पूजा, नाम, स्थापना आदि तथा इन्द्र, चक्रवर्ती आदि द्वारा की जाने वाली पूजा की अपेक्षा व्यवहार पूजन के अनेक भेद—प्रभेद हैं। पूजा को द्रव्यपूजा एवं भावपूजा में विभाजित करते हुए आचार्य अमितगति उपासकाचार में लिखते हैं—

वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः।।[17]

"वचन और काय को अन्य व्यापारों से हटाकर स्तुत्य (उपास्य) के प्रति एकाग्र करने को द्रव्यपूजा कहते हैं और मन की नाना प्रकार से विकल्पजनित व्यग्रता को दूर करके उसे ध्यान तथा गुण चिन्तनादि द्वारा स्तुत्य में लीन करने को भावपूजा कहते हैं।"

आचार्य अमितगति ने अमितगति श्रावकाचार में एवं आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि श्रावकाचार में द्रव्य पूजा के निम्नांकित तीन भेद किये हैं —

1. सचित्त पूजा 2. अचित्त पूजा और 3. मिश्र पूजा।

सचित्त पूजा—प्रत्यक्ष उपस्थित समवशरण में विराजमान जिनेन्द्र भगवान और निर्ग्रन्थ गुरु का यथायोग्य पूजन करना सचित्त पूजा है।

अचित्त पूजा—तीर्थंकर के शरीर (प्रतिमा) की और द्रव्यश्रुत की पूजन करना अचित्त द्रव्य पूजा है।

मिश्र पूजा—उपर्युक्त दोनों प्रकार की पूजा मिश्र द्रव्य पूजा है। सचित्त फलादि से पूजन करने वालों को उपर्युक्त कथन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसमें अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सचित्तता सामग्री की नहीं, आराध्य की होना चाहिए। सचित्त माने साक्षात् सशरीर जिनेन्द्र भगवान और अचित्त माने उनकी प्रतिमा।

महापुराण में द्रव्यपूजा के पाँच प्रकार बताये हैं[18] —

1. सदार्चन (नित्यमह) 2. चतुर्भुज 3. कल्पद्रुम 4. आष्टाह्निक 5. ऐन्द्रध्वज।

(1) सदार्चन पूजा—इसे नित्यमह पूजा या नित्य नियम पूजा भी कहते हैं। यह चार प्रकार से की जाती है।

क) अपने घर से अष्ट द्रव्य ले जाकर जिनालय में जिनेन्द्र देव की पूजा करना।

ख) जिन प्रतिमा व जिनमन्दिर का निर्माण कराना।

ग) दानपत्र लिखकर ग्राम—खेत आदि का दान देना।

घ) मुनिराजों को आहार देना।

(2) चतुर्मुख पूजा (सर्वतोभद्र पूजा)—मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा महापूजा करना।

(3) कल्पद्रुम पूजा—चक्रवर्ती राजा द्वारा किमिच्छिक दान देने के साथ जिनेन्द्र भगवान का पूजोत्सव करना।

(4) आष्टाह्निक पूजा—अष्टाह्निका पर्व में सर्व साधारण के द्वारा पूजा का आयोजन करना।

(5) ऐन्द्रध्वज पूजा—यह पूजा इन्द्रों द्वारा की जाती है।

उपर्युक्त पाँच प्रकार की पूजनों में हम लोग सामान्य जन प्रतिदिन केवल सदार्चन (नित्यमह) का 'क' भाग ही करते हैं। शेष पूजा भी यथा अवसर यथायोग्य व्यक्तियों द्वारा की जाती है।

वसुनन्दि श्रावकाचार में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से द्रव्यपूजा के छह भेद कहे हैं –

नाम पूजा—अरहन्तादि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं, वह नामपूजा है।

स्थापना पूजा—यह दो प्रकार की है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। आकारवान वस्तु में अरहन्तादि के गुणों का आरोपण करना सद्भाव स्थापना है तथा अक्षतादि में अपनी बुद्धि से यह परिकल्पना करना कि यह अमुक देवता है, असद्भाव स्थापना है। असद्भाव स्थापना मूर्ति की उपस्थिति में नहीं की जाती।

द्रव्य पूजा—अरहन्तादि को गन्ध, पुष्प, अक्षतादि समर्पित करना तथा उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, प्रदक्षिणा देना आदि शारीरिक क्रियाओं तथा वचनों से स्तवन करना द्रव्य पूजा है।

भाव पूजा—परम भक्ति से अनन्त चतुष्टयादि गुणों के कीर्तन द्वारा त्रिकाल वन्दना करना निश्चय भावपूजा है। पंच नमस्कार मन्त्र का जाप करना तथा जिनेन्द्र का स्तवन अर्थात् गुणस्मरण करना ही भावपूजा है तथा पिण्डस्थ पदस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान को भी भावपूजा कहा गया है।

क्षेत्र पूजा—तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमि में स्थित तीर्थ क्षेत्रों की पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करना क्षेत्र पूजा है।

काल पूजा—तीर्थंकरों की पंचकल्याणक तिथियों के अनुसार पूजन करना तथा पूर्व के दिनों में विशेष पूजायें करना काल पूजा है।[19]

द्यानतरायजी ने विभिन्न विषयों पर अनेक पूजनें लिखी हैं, उन्होंने पूजनों के माध्यम से देव—शास्त्र—गुरु, धर्म के दशलक्षण, रत्नत्रय, षोडशकारण, पंचमेरु, विद्यमान बीस तीर्थंकर, सरस्वती अर्थात् जिनवाणी, निर्वाण क्षेत्र एवं नन्दीश्वरद्वीप आदि विषयों पर आध्यात्मिक एवं सारगर्भित पूजनों की रचना की है। उनकी पूजनों का समीक्षात्मक अध्ययन नीचे प्रस्तुत है –

(1) चौबीस तीर्थंकर पूजा—इसमें आदिनाथ से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों की संयुक्त रूप में अर्चना की गयी है। पूजन की स्थापना में कवि ने चौबीसों तीर्थंकरों का नाम लेकर नमन किया है –

वृषभ अजित सम्भव अभिनन्दन सुमति पद्म सुपार्श्व जिनराय।
चन्द्र पुहुप शीतल श्रेयांस जिन वासुपूज्य पूजित सुरराय।।
विमल अनन्त धर्म जस उज्ज्वल शान्ति कुन्थु अर मल्लि मनाय।
मुनिसुव्रत नमि नेमि पार्श्व प्रभु वर्धमान पद पुष्प चढ़ाय।।[20]

द्यानतराय की पूजनों में गेयता, लयता विद्यमान है, जिसके फलस्वरूप ये पूजनें आज भी जैन भक्तों को कण्ठाग्र हैं।

इस पूजन की जयमाला के अन्तिम पद में कवि ने चौबीस तीर्थंकरों को मुक्ति के दातार कहा है व जो भी उनको हृदय में धारण करता है, वह अवश्य शिव (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

(2) दशलक्षण पूजा या भाद्रपद पूजा—दशलक्षण का तात्पर्य दशधर्मों से है। इन्हें दशधर्मों के नाम से भी जाना जाता है। वे दश धर्म निम्न हैं –

उत्तमक्षमामार्दवार्जवषौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।[21]

अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग,

अकिंचन्य और ब्रह्मचर्य–ये दश धर्म हैं।

इन दशधर्मों के स्वरूप को द्यानतराय द्वारा दशलक्षण पूजा में देखा जा सकता है।

इस पूजन की स्थापना में उन्होंने दशधर्मों के नाम गिनाये हैं –

उत्तम छिमा मारदव आर्जव भाव हैं।
सत्य शौच संयम तप त्याग उपाव हैं।।
आकिंचन ब्रह्मचर्य धरम दश सार हैं।
चहुँगति दुःखतैं काढ़ि मुकति करतार हैं।।

यह पूजन अन्य पूजनों की अपेक्षा वृहद् है; क्योंकि इसमें अंग पूजा को भी समाहित किया गया है। दशों धर्मों के पृथक्–पृथक् अर्घ्य दिये गये हैं।[22]

(3) रत्नत्रय पूजा–जैनदर्शन में तीन रत्न माने गये हैं। वे हैं – सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र।[23] चूँकि ये मोक्षमार्ग हैं; अतः इन्हें रत्न कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की स्तुति व महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए ही द्यानतरायजी ने रत्नत्रय पूजा को लिखा।

इस पूजन में प्रारम्भ में स्थापना का पद है। पश्चात् आठ अर्घ्य के अष्टक हैं, जो कि सोरठा छन्द में लिखे गये हैं। उसके बाद प्रथम सम्यग्दर्शन पूजन है, जिसमें सम्यग्दर्शन के आठ अंगों को पूजने की बात की गयी है। इसकी जयमाला में सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों की बात इस प्रकार कही गयी है–

आप आप निहचै लखै, तत्त्व प्रीति व्यवहार।
रहित दोष पच्चीस हैं, सहित अष्ट गुनसार।।[24]

पश्चात् सम्यग्ज्ञान पूजन में सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद का वर्णन कर आठ अर्घ्यों के पद हैं व अन्त में जयमाला में आठ प्रकार के सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया है।

सम्यक्चारित्र पूजन में स्थापना का पद दोहा छन्द में है, पश्चात् अर्घ्य सोरठा छन्द में लिखे हैं। जयमाला चौपाई मिश्रित गीता छन्द में निबद्ध है। अन्त में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की समुच्चय जयमाला है, जो कि दोहा व चौपाई में लिखी गयी है।

(4) सोलहकारण पूजा–दर्शनविशुद्धि आदि को सोलहकारण कहा

जाता है, क्योंकि ये भाव तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण हैं। सोलहकारण निम्न हैं—'**दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तिस्त्याग, तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यका-परिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवात्सल्य।**"[25]

द्यानतराय ने भी सोलह कारण पूजन की स्थापना में सोलह कारण को तीर्थंकर प्रकृति का कारण माना है –

सोलहकारण भाय तीर्थंकर जे भये।
हरसे इन्द्र अपार मेरु पै ले गये।।
पूजा करि निज धन्य लखौं बहु चाव सौं।
हमहूँ षोडश कारण भावैं भाव सौं।।[26]

इन सोलह कारण भावनाओं को ध्याने से मोक्षफल की प्राप्ति बताते हुए द्यानतरायजी ने लिखा है –

एही–सोलह भावना, सहित धरै व्रत जोय।
देव इन्द्र नर वन्द्य पद, 'द्यानत' शिव पद होय।।

(5) **पंचमेरु पूजन**—पंचमेरु पूजन में द्यानतरायजी ने पंचमेरु पर स्थित अस्सी जिनचैत्यालयों में विराजित जिन प्रतिमाओं की स्तुति की है—

तीर्थंकरों के न्हवन जलतैं भये तीरथ सर्वदा।
तातैं प्रदच्छन देत सुरगन पंचमेरुन की सदा।
दो जलधि ढाई द्वीप में सब गनत मूल विराजहीं।
पूजौं असी जिनधाम प्रतिमा होहिं सुख, दुख भाजहीं।।

इस पूजन में अष्टक चौपाई आँचलीबद्ध छन्द में लिखित है तथा जयमाला बेसरी छन्द में लिखित है। जयमाला के अन्तिम पद में घानतराय ने पंचमेरु की आरती को पढ़ने सुनने से होने वाले महासुख की चर्चा की है –

पंचमेरु की आरती, पढ़े सुने जो कोय।
'द्यानत' फल जाने प्रभु, तुरत महासुख होय।।[27]

(6) **देव–शास्त्र–गुरु पूजा** – इस पूजन में देव–शास्त्र–गुरु की स्तुति की गयी है। देव–शास्त्र–गुरु स्तुति में द्यानतरायजी ने लिखा है कि–

प्रथम देव अरहन्त सुश्रुत सिद्धान्त जू।
गुरु निरग्रन्थ महन्त मुकतिपुर पन्थ जू।।

तीन रतन जगमाहिं सु ये भवि ध्याइये।
तिनकी भक्ति प्रसाद परम पद पाइये।।[28]

इस पूजन के अष्टक दोहा एवं हरिगीतिका छन्द में लिखे गये हैं एवं जयमाला पद्धरि छन्द में है।

(7) विद्यमान बीस तीर्थंकर पूजा–द्यानतरायजी की यह पूजन विदेहक्षेत्र में विद्यमान त्रिकालवर्ती बीस तीर्थंकरों की स्तुति के लिए है। वे बीस तीर्थंकर निम्न हैं–श्री सीमन्धर, युगमन्धर, बाहु, सुबाहु, संजातक, स्वयंप्रभ, वृषभानन, अनन्तवीर्य, सूरप्रभ, विशालकीर्ति, वज्रधर, चन्द्रानन, भद्रबाहु, भुजंगम, ईश्वर, नेमिप्रभ, वीरसेन, महाभद्र, देवयश और अजितवीर्य।[29]

इस पूजन में भी पद्धति अनुसार स्थापना छन्द, अष्टक एवं जयमाला है। जयमाला चौपाई छन्द में लिखी गयी है।

(8) सरस्वती पूजन–द्यानतरायजी की यह पूजन जिनवाणी की स्तुति में लिखी गयी है। जिनवाणी की स्तुति करते हुए पूजन की स्थापना में लिखा है –

जनम जरा मृतु क्षय करै, हरै कुनय जड़ रीति।
भव सागर सौं ले तिरै, पूजैं जिनवच प्रीति।।[30]

इस पूजन में जिनवाणी की स्तुति परक अष्टक लिखे गये हैं व जयमाला में जिनवाणी के बारह अंगों का वर्णन किया गया है। पूजन की स्थापना में दोहा व अष्टक में त्रिभंगी छन्द का प्रयोग किया है। जयमाला सोरठा व चौपाई छन्द में लिखी गयी है।

(9) श्री निर्वाण क्षेत्र पूजन–द्यानतरायजी ने इस पूजन में निर्वाण क्षेत्रों को पूजा है। जिन–जिन स्थानों से तीर्थंकर व अन्य मुनि मोक्ष गये हैं, उन–उन क्षेत्रों को धन्य मानते हुए उनकी स्तुति की गयी है। वे क्षेत्र निम्न हैं –

सम्मेद शिखर, गिरनार, चम्पापुर, पावापुर एवं कैलाश पर्वत। जैसा कि पूजन की पंक्तियों में भी वर्णित है–

शुचि क्षीर दधि सम नीर निरमल कनक झारी में भरौं।
संसार पार उतार स्वामी, जोड़ कर विनती करौं।।
सम्मेदगढ़ गिरनार चम्पा पावापुरी कैलाश कौं।

पूजौं सदा चौबीस जिन निर्वाण भूमि निवास कौं।।[31]

पूजन की स्थापना का पद सोरठा छन्द का व अष्टक गीता छन्द के हैं। जयमाला सोरठा व चौपाई छन्द में लिखी गयी है।

(10) नन्दीश्वर पूजन—नन्दीश्वर पूजन में नन्दीश्वर द्वीप की स्तुति की गयी है। यह पूजन जैन पर्व अष्टाह्निका में की जाती है। देव गण तो साक्षात् नन्दीश्वर द्वीप में जाकर वहाँ विराजित जिनप्रतिमाओं की पूजन करते हैं, किन्तु मनुष्य वहाँ जाने में असमर्थ हैं; क्योंकि मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत तक ही जा सकते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे सिर्फ देव ही जा सकते हैं; अतः मनुष्य अष्टाह्निका के दिनों में नन्दीश्वर पूजन कर वहाँ विराजित जिनप्रतिमाओं की स्तुति करते हैं। जैसा कि द्यानतराय ने स्थापना के छन्द में उल्लेख किया है—

सरब परब में बड़ो अठाई परब है।
नन्दीश्वर सुर जाहिं लेय वसु दरब है।।
हमें सकति सो नाहीं इहाँ करि थापना।
पूजैं जिनगृह प्रतिमा है हित आपना।।[32]

इस पूजन में स्थापना का पद अडिल्ल छन्द में व अष्टक अवतार छन्द में लिखे गये हैं। जयमाला दोहा एवं सोरठा छन्द में लिखी गयी है।

विभिन्न फुटकर रचनाएँ – (मुक्तक काव्य)

विनतियाँ—द्यानतराय ने आराधना पाठ विनती शैली में लिखा है, जो कि वृहद् जिनवाणी संग्रह पुस्तक में संग्रहीत है। विनती के अनुनय, विनय, नम्रता आदि अनेक अर्थ हैं।[33] इसमें श्रद्धेय के प्रति विशिष्ट सम्मान प्रकट करते हुए अपने अपराधों की क्षमा माँगी जाती है और आराध्य के प्रति नम्रता भी प्रकट की जाती है। यह मूलतः कवि की भावाभिव्यक्ति होती है।

स्तोत्र साहित्य—प्रत्येक धर्म में भक्त अपने हृदय की बातें भगवान के सामने प्रकट करने तथा उनकी महिमा के वर्णन में अपने कोमल तथा भक्ति पूरित हृदय की जितनी दीनता तथा कोमलता का और भगवान की उदारता का परिचय दिया है। वह सचमुच उपमातीत है। हमारा भक्त कवि कभी भगवान की दिव्य विभूतियों के दर्शन से चकित हो उठता है तो कभी भगवान के विशाल हृदय, असीम अनुकम्पा और दीनजनों पर अकारण स्नेह

की गाथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो उठता है।

अपने पूर्व कर्मों की ओर जब वह दृष्टि डालता है, तब उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन बना डालती है। बच्चा जिस प्रकार अपनी माता के पास मनचाही वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है और आत्मविश्वास की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। ठीक यही दशा हमारे भक्त कवियों की है। वे अपने इष्ट देवता के सामने अपने हृदय के खोलने में किसी प्रकार की आनाकानी नहीं करते। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता को कोमल शब्दों में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों के द्वारा विरचित स्तोत्रों में बड़ी मोहकता है, चित्त को पिघला देने की भारी शक्ति है। संगीत का पुट मिल जाने पर इनका प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ जाता है।

किसी देवता का छन्दोबद्ध स्वरूप कथन या गुण कीर्तन अथवा स्तवन स्तोत्र कहलाता है।[34] द्यानतराय ने तीन स्तोत्र लिखे हैं जिनमें एक पार्श्वनाथ स्तोत्र मूलरूप में एवं स्वयंभू स्तोत्र और एकीभाव स्तोत्र भाषानुवाद है।

(1) पार्श्वनाथ स्तोत्र—पार्श्वनाथ की स्तुति में रचित यह स्तोत्र स्तोत्र परम्परा की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति की गयी है। यह स्तोत्र नौ भुजंगप्रयात छन्दों और एक दोहे में निबद्ध है। यह सरल हिन्दी में रचा हुआ है। इसमें भाषा की संस्कृतनिष्ठता मौजूद है। डॉ. प्रेम सागर जैन के अनुसार[35] इसमें स्तोत्र एवं स्तुति का मिला–जुला रूप मिलता है। कवि ने इसकी रचना करके स्तोत्र की नव्य और विकसित परम्परा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

(2) स्वयंभू स्तोत्र भाषा—यह स्वयंभू स्तोत्र का देशभाषा में अनुवाद है। यह अनुवाद स्वयंभू स्तोत्र की संस्कृत भाषा एवं भाव के अनुसार ही हुआ है। इस रचना में चौबीस चौपाई और एक दोहा छन्द है। अन्तिम दोहा छन्द जिसमें द्यानतराय द्वारा चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। यह स्तोत्र प्रकाशित और हस्तलिखित दोनों रूपों में उपलब्ध है। इसमें तीर्थंकरों की वन्दना की गई है। जैसा कि स्तोत्र के अन्तिम पद में कहा है—

चौबीसों पद कमल जुग, वन्दौ मन वच काय।
'द्यानत' पढ़ै सुनै सदा सो प्रभु क्यौं न सुहाय।।[36]

(3) एकीभाव स्तोत्र भाषा—यह श्रीवादिराजसूरि के संस्कृत एकीभाव स्तोत्र का भावानुवाद है। इसमें 25 चौपाई एवं 2 दोहे हैं। इसमें सर्वप्रथम जिनेन्द्र को नमस्कार कर, मिथ्याभावों, जगत भ्रमण, भव—भव में अपार दुःख, स्याद्वाद, मोक्ष, द्वादशांग इत्यादि का वर्णन किया है। अन्तिम पद में श्रीवादिराज मुनि की प्रशंसा में कहा है —

सबद काव्य हित तर्क मैं, वादिराज सिरताज।
एकीभाव प्रगट कियौ, 'द्यानत' भगति जहाज।।26।।

आरतियाँ—कवि द्यानतराय द्वारा रचित अनेक आरतियाँ विभिन्न शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध हैं। इनमें पंचपरमेष्ठी की आरती, आरती दशक में उपलब्ध आरतियाँ एवं जुगल आरती उपलब्ध है। इनमें पंचपरमेष्ठी की आरती श्री जैन पूजा पाठ संग्रह के पृष्ठ संख्या 344 में प्रकाशित है। यह आरती प्रत्येक जैन भक्त को कण्ठाग्र है। द्यानतविलास में आरती दशक में दस आरतियाँ हैं। क्रमशः पंच परमेष्ठी, जिनराज, मुनिराज, नेमिनाथ, निश्चय, आत्मा, वर्धमान, वृषभनाथ एवं परमात्मा की आरतियाँ हैं।[37] ये आरतियाँ एक तरह से भक्त्यात्मक गीत ही हैं। गीत पद्धति में रची हुई आरती का व्यवहार कीर्तन की तरह होता है। साकार उपासना के कारण आरती काव्य अति लोकप्रिय हुआ है।[38]

अष्टक काव्य—आठ श्लोकों वाला काव्य या स्तोत्र अष्टक कहलाता है।[39] यह संख्याश्रित मुक्तक काव्य की श्रेणी में आता है। साकार उपासना में अष्टकों का अति लोकप्रिय स्थान रहा है। द्यानतराय द्वारा रचित एक यति भावना अष्टक उपलब्ध होता है।

छहढाला—छह भागों में विभक्त होने से इसको छहढाला नाम दिया गया है किन्तु इसका वास्तविक नाम सुबोध पंचासिका है। स्वयं द्यानतरायजी ने छह भागों में विभक्त साधारण उपदेशात्मक रचना की थी तथा कुल 50 छन्द होने के कारण उसका नाम पंचासिका रखा था। इस सन्दर्भ में हम लेखक की कुछ पंक्तियों पर विचार कर सकते हैं —

हित सौं अर्थ बताइयौ, सुगुरु बिहारीदास।
सत्रहसौं बावन बदी, तेरस कार्तिकमास।।46।।
क्षय उपशम बल मैं कहे, द्यानत अच्छर एहु।
दोष सुबोध पंचासिका, बुधजन शुद्ध करेहु।।47।।[40]

उपर्युक्त पंक्तियों से निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—प्रथम तो

पण्डित द्यानतरायजी ने अपनी कृति का नाम सुबोध पंचासिका रखा था। फिर इसका नाम छहढाला कैसे एवं कब पड़ा? यह बात स्पष्ट नहीं है। पण्डित दौलतरामजी की छहढाला की लोकप्रियता को देखकर सम्भवतः छह भागों में विभक्त देखकर इसे छहढाला का नाम दे दिया गया होगा। जो भी हो, परन्तु उक्त कृति का वास्तविक नाम सुबोध पंचासिका ही है।

प्रथम अध्याय में कुल आठ छन्द हैं, जिनमें प्रथम पद में मंगलाचरण करते हुए ओंकार को तीन भुवन में सार बताकर अप्रत्यक्ष रूप से पंचपरमेष्ठी को नमन किया है। द्वितीय पद में कवि ने स्वयं को अल्पज्ञ बताते हुए भी काव्य रचने को उद्यत होने की बात कही है। तृतीय से अष्टम पद तक नरभव की दुर्लभता एवं विषयों में लीन रहने वाले को मूर्ख एवं ऊर्ध्व गति का बीज 'धर्म' को बताया है।

द्वितीय अध्याय में भी कुल आठ छन्द हैं, जो कि मनहरण छन्द में लिखे हैं। इसमें भी प्रथम छन्द से अन्तिम छन्द तक जैनधर्म को नहीं धारण करने से दुखी रहने तथा जिनधर्म ग्रहण करने से भवसागर तरने की बात एवं धन व यौवन को क्षण में नष्ट होने की बात कही है।

तृतीय अध्याय में रोला छन्द में लिखे कुल चार छन्द हैं। इसमें संसार की क्षणभंगुरता एवं गर्भ में अनेक दुख सहने व संयोग–वियोग के दुखों की बात की गयी है।

चतुर्थ अध्याय में कुल आठ छन्द हैं। इसमें जरापने के दुःख, विषयों में मस्त रहकर आत्मा को भूलने की बात कही गयी है। धर्म को नहीं छोड़ने तथा क्रोधादि को छोड़ने की बात कही है।

पाँचवें अध्याय में भी आठ छन्द हैं व इसमें जीव को धर्म की सँभार करने को प्रेरित किया गया है। धर्म के बिना अनेक दुख सहने की बात कही गयी है। दानादि से स्वर्ग व पाप से नरक मिलने की बात कही गयी है।

छठवें अध्याय में तेरह छन्द हैं। इसमें बताया है कि जीव धन के लिए नीच कर्म करता है, किन्तु नीच कर्म से धन नहीं मिलता; बल्कि धर्म से ही धन मिलता है एवं सोच–विचार न कर विधि के लिखे योग को स्वीकारने व साधर्मी की सत्संगति की बात कही गयी है।

इस प्रकार यह कृति धर्म के महत्त्व व क्रोधादि के त्याग पर बल

देती है तथा साधर्मी की संगति के महत्त्व को अभिव्यक्त करती है।

पदसंग्रह—प्रायः द्यानतरायजी के पद यत्र–तत्र बिखरे हुए हैं। विभिन्न धार्मिक व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा विभिन्न पद विभिन्न नामों से संग्रहीत कर प्रकाशित कर दिये गये हैं। इसी कड़ी में एक पद संग्रह बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है। इसमें 17 पद हैं। इनका विषय जिनदेव, जिनवाणी, जिनगुरु, जिनधर्म आदि की भक्ति से सम्बन्धित है। अनेक पद आध्यात्मिक भावों के भी द्योतक हैं। एक पद संग्रह साहित्य शोध विभाग, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी से प्रकाशित है, जिसमें द्यानतरायजी के पद संग्रहीत हैं। एक और पद संग्रह जो श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (मारवाड़) से प्रकाशित है, जिसमें द्यानतरायजी के द्यानत विलास के 40 पद संग्रहीत हैं। द्यानतरायजी के कुछ पद'अध्यात्म पद–पारिजात' में भी प्रकाशित हैं।

बावनियाँ—द्यानतरायजी ने दो बावनियाँ लिखी हैं, जिसमें पहली अक्षर बावनी तथा दूसरी दान बावनी है। बावनियों में कवि ने आध्यात्मिक भावों से गर्भित विषयों पर बावन छन्द लिखे हैं, जिसके कारण इनका नाम बावनी रखा गया है।

कवि द्वारा रचित उपर्युक्त सभी फुटकर रचनाएँ मुक्तक काव्य के अन्तर्गत ही आती हैं। ये सभी रचनाएँ हिन्दी साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं।

सन्दर्भ सूची

1. चरचा शतक – आमुख, पृष्ठ–2
2. चरचा शतक, पद–12,13,14, पृष्ठ–26 से 31
3. चरचा शतक, पद–44, पृष्ठ–105
4. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, पृष्ठ–691, द्वितीय संस्करण, काशी
5. एक कविकृत श्लोक समूह या मुक्तक समुच्चय (कोश) का नाम पद्यट्टक है। हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, पृष्ठ–275
6. पद्मनन्दि पंचविंशति (उपासक संस्कार) पृष्ठ–128, श्लोक–6
7. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा–46
8. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक–119 की टीका, पृष्ठ–208।
9. स्वयंभू स्तोत्र, छन्द–571

10. पंचास्तिकाय, गाथा–136 की टीका
11. पण्डित दौलतराम कृत देवस्तुति।
12. पण्डित दौलतराम कृत आध्यात्मिक भजन।
13. भुक्ति मुक्ति दातार, चौबीसौं जिनराजवर।(चौ० तीर्थंकर पूजा)
14. परमात्म प्रकाश, 1/123/2
15. समाधितन्त्र–31
16. अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़ मूल श्लोक–104
17. जुगलकिशोर मुख्तार कृत स्तुतिविद्या, प्रस्तावना, पृष्ठ–20
18. महापुराण, श्रावकाचार सर्ग, 38/26–33
19. भगवती आराधना–46, विजयोदया टीका–वसुनन्दि श्रावकाचार 456 से 458
20. द्यानतराय कृत चौबीस तीर्थंकर पूजा
21. तत्त्वार्थसूत्र, नवम अध्याय, सूत्र–6
22. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजा
23. तत्त्वार्थसूत्र, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः
24. द्यानतराय कृत सम्यग्दर्शन पूजा
25. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–छह, सूत्र–24
26. द्यानतराय कृत सोलहकारण पूजा
27. द्यानतराय कृत पंचमेरु पूजन, स्थापना छन्द
28. द्यानतराय कृत देव–शास्त्र–गुरु पूजन
29. जिनेन्द्र अर्चना, पृष्ठ–116
30. द्यानतराय कृत सरस्वती पूजन
31. द्यानतराय कृत निर्वाणक्षेत्र पूजन
32. द्यानतराय कृत नन्दीश्वरद्वीप पूजन
33. नगेन्द्रनाथ वसु संकलित हिन्दी विश्वकोश, भाग–21, पृष्ठ 416, सन् 1930,
34. धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, पृष्ठ–945, द्वितीय संस्करण
35. डॉ. प्रेमसागर जैन कृत हिन्दी जैन भक्ति–काव्य एवं कवि, पृष्ठ–345
36. द्यानतराय कृत स्वयंभू स्तोत्र भाषा
37. द्यानतराय कृत धर्मविलास, प्रकाशक–श्री जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पृष्ठ–149
38. नगेन्द्रनाथ वसु संकलित हिन्दी विश्वकोश, भाग–2, पृष्ठ–644, सन् 1917,
39. नगेन्द्रनाथ वसु संकलित हिन्दी विश्वकोश, भाग–2, पृष्ठ–382, सन् 1917,
40. सुबोध पंचासिका, पद–50, 52

तृतीय अध्याय

द्यानतराय के साहित्य में अध्यात्म चेतना

(क) अध्यात्म स्वरूप एवं विश्लेषण

(1) अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ, लक्षण एवं परिभाषा :–

अध्यात्म शब्द अधि उपसर्ग पूर्वक आत्म शब्द के योग से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है आत्मा से सम्बन्धित या आत्मा का; अर्थात् जो आत्मा से सम्बन्धित है, वही अध्यात्म है; जो आत्मा के चहुँमुखी विकास को बताता है, वही अध्यात्म है या ऐसा कहें कि जो आत्मा के पूर्ण विकास की बात कर नर से नारायण, पामर से भगवान बनाने की बात करता है वही अध्यात्म है।

अध्यात्म की परिभाषा–अध्यात्म को विभिन्न विद्वानों, दार्शनिकों ने अलग–अलग रूप से परिभाषित किया है, इसी श्रृंखला में समयसार में अध्यात्म शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम्।[1]

अर्थात् अपने शुद्धात्मा में विशुद्धता का आधारभूत अनुष्ठान या आचरण अध्यात्म है।

उसी प्रकार **अर्थपदानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादकानामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते**[2] *अर्थात्* अभेदरूप रत्नत्रय के प्रतिपादक अर्थ और पदों के अनुकूल जहाँ व्याख्यान किया जाता है, उसे अध्यात्म शास्त्र कहते हैं।

मिथ्यात्वरागादि–समस्तविकल्पजालरूप–परिहारेण स्वशुद्धात्मन्यनुष्ठानं तदध्यात्ममिति।[3]

अर्थात् मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से शुद्धात्मा में जो अनुष्ठान अर्थात् प्रवृत्ति करना, उसे अध्यात्म कहते हैं।

आत्मानमात्मन्यात्मना संघत्त इत्यध्यात्मम्।[4]

अर्थात् आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण कर रखता है, टिका रखता है, जोड़ रखता है, वह अध्यात्म है।

जहाँ एक आत्मा के आश्रय निरूपण करिये, सो अध्यात्म है।[5]

(2) अध्यात्म–विभिन्न दर्शनों की दृष्टि में –

भारतीय दर्शन की जो अनेक धाराएँ तत्तत् कालों में प्रवाहित हुईं तथा जो सांख्य, योग आदि भिन्न–भिन्न नामों से अभिहित होकर अनेकानेक सम्प्रदायों के प्रवर्तन का कारण बनीं; उनमें से प्रत्येक यद्यपि अपने मूल में कोई न कोई ऐसा असामान्य मौलिक तत्त्व या विशिष्ट विचारधारा रखती है, जो अन्य दर्शन के आधारों से उसे पृथक् कर देता है, तथापि इनमें कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ भी पाई जाती हैं, जो यह इंगित करती हैं कि इनमें से अधिकांश धाराओं का उद्गम–स्थल या स्रोत एक ही है और इस प्रकार यह सिद्ध करती है कि भले ही कुछ ऊपरी भेदों के कारण इनमें अनेकता या भिन्नता दृष्टिगोचर हो रही हो, अपने आन्तरिक वैभव की दृष्टि से ये सब एक ही हैं।

उदाहरण के लिए अति भौतिकवादी चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारतीय दर्शन की शेष सभी धाराएँ एक ही विशिष्ट उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुई दृष्टिगत होती हैं। वह विशिष्ट उद्देश्य है–दुःख का निरोध। जैसा कि डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन का इतिहास' में कहा है कि "तापत्रय से झुलसते हुए विश्व को देखकर, भारत की सर्वोच्च मेधा ने, उसकी आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति के लिए जिन उपायों का प्रवचन किया, वे ही दर्शन के महनीय नाम से अभिहित हुए।"[6] इस प्रकार प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के मूल में दुःख का निरोध एक विशिष्ट उद्देश्य के रूप में विद्यमान दिखाई पड़ता है।

प्रायः सभी भारतीय दर्शन, चाहे वह बौद्ध दर्शन हो, सांख्य दर्शन हो या स्वयं वेदान्त हो; सबने अपने–अपने दृष्टिकोण से दुःखमय संसार से निवृत्ति का उपाय ही बताया है। स्वयं भौतिकवादी चार्वाक दर्शन भी मानव जीवन का एकमात्र उद्देश्य सुखभोग घोषित कर प्रकारान्तर से दुःख की निवृत्ति को ही अपना ध्येय मानता प्रतीत होता है। जैसा कि चार्वाक दर्शन का ध्येय है –

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।[7]

सभी भारतीय दर्शनों की कुछ मूलभूत विशेषताएँ हैं, जिन्हें हम इस प्रकार विवेचित कर सकते हैं –

1. दुःख की सत्ता–प्रायः सभी भारतीय दर्शन संसार को नश्वर, जड़ एवं दुःखमय मानते हैं। महात्मा बुद्ध ने तो अपने चार आर्यसत्यों में दुःख को प्रथम आर्यसत्य माना है। सांख्य की दृष्टि में संसार निरन्तर दुःखत्रय के आघात से पीड़ित रहता है–"दुःखत्रयाभिघातात्।"[5] छहढालाकार पण्डित प्रवर दौलतरामजी भी लिखते हैं कि तीनों लोकों में अनन्त जीव मौजूद हैं और वे सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं –

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुःख तैं भयवन्त।[8]

स्वयं द्यानतराय ने भी एक पद में संसार को असार एवं मनुष्य भव की दुर्लभता को इस प्रकार बताया है

नहीं ऐसो जनम बारम्बार।।
कठिन–कठिन लह्यो मानुष–भव, विषय तजि मतिहार।। नहिं।।
पाय चिन्तामणी रतन शठ, छिपत उदधि मँझार।
अंध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गँवार।। नहिं.।।
कबहुँ नरक तिरयंच कबहुँ, कबहुँ सुरग विहार।
जगत माहिं चिरकाल भ्रमियो, दुर्लभ नर अवतार।। नहिं।।
पाय अमृत पांव धोवे, कहत सुगुरु पुकार।
तजो विषय कषाय द्यानत, ज्यों लहो भवपार।। नहिं।।[9]

इस प्रकार अन्य दर्शन भी जन्म, मृत्यु के रूप में अनेकविध दुःख मानते हैं–पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम् और इनसे मुक्त हो जाने को मोक्ष मानते हैं।

2. दुःख का कारण अज्ञान–भगवान बुद्ध ने दुःख के कारण को दूसरा आर्यसत्य माना है। जब दुःख है तो उसका कारण भी निश्चित रूप से है। अन्य दर्शन भी इस सम्बन्ध में बौद्धदर्शन का ही अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। इन सभी दर्शनों ने दुःख के कारण के रूप में अविद्या या अज्ञान को माना है।

3. मुक्ति या मोक्षः– संसार के विविध दुःखों से मुक्त हो जाने को ही मुक्ति या मोक्ष के नाम से अभिहित किया गया है। यह सभी दर्शनों का काम्य है और इसीलिए इसको अन्तिम पुरुषार्थ माना गया है, किन्तु इसके स्वरूप के सम्बन्ध में दर्शनों में ऐकमत्य नहीं है। न्यायवैशेषिक आत्मा की सद्रूपावस्थिति को, सांख्ययोग उसकी चित्स्वरूपावस्थिति को और वेदान्त

सच्चिदानन्दात्मरूप स्थिति को मुक्ति मानते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक दर्शन की दृष्टि में मुक्ति का स्वरूप भिन्न है, किन्तु उसकी स्थिति को सभी प्रमुख रूप से स्वीकार करते हैं।

4. पुनर्जन्म की धारणा:—आत्मा के द्वारा एक शरीर के परित्याग और दूसरे शरीर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसे ही जन्म और मृत्यु कहा गया है। गीता के अनुसार उत्पन्न जीव की मृत्यु और मृत का जन्म अनिवार्य है—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।" इस अदृष्ट रूप कर्म के तीन रूप हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध।

5. 'आत्मा' की स्वीकृति :—चूँकि पुनर्जन्म का आधार 'आत्मा' ही है, इसलिए प्रायः सभी दर्शन 'आत्मा' के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को तो नहीं मानते,, किन्तु उसका कार्य उन्होंने पंचस्कन्धों के द्वारा सम्पादित कर लिया है। आत्मरूप इस एक विशिष्ट तत्त्व को स्वीकार करने पर भी भिन्न—भिन्न दर्शनों में उसके स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है।

जैन दर्शनानुसार आत्मा शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से है— 'अत्' धातु का अर्थ 'सतत गमन' है। 'गमन' शब्द का यहाँ 'ज्ञान' अर्थ होता है; क्योंकि 'सब गतिरूप अर्थवाले धातु ज्ञानरूप अर्थवाले होते हैं'—ऐसा वचन है। इस कारण, यथासंभव ज्ञान सुखादि गुणों में 'आ' अर्थात् सर्वप्रकार से 'अतति' अर्थात् वर्तता है, वह आत्मा है अथवा शुभ—अशुभ मन—वचन—काय की क्रिया द्वारा यथासम्भव तीव्र—मंदादिरूप से जो 'आ' अर्थात् पूर्णरूप से 'अतति' वर्तता है, वह आत्मा है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों द्वारा जो 'आ' अर्थात् पूर्णरूप से 'अतति' अर्थात् वर्तता है, वह आत्मा है।"[10]

सांख्य दर्शन में यह पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। यह उसके अनुसार नित्य, विभु, चैतन्य और अकर्ता है। योगदर्शन की भी यही मान्यता है। मीमांसा उसके विभुत्व और नित्यत्व को स्वीकार करती है, किन्तु चैतन्य को उसका आगन्तुक धर्म मानती है। वेदान्त के अनुसार आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और सच्चिदानन्द स्वरूप है। न्याय—वैशेषिक आत्मा को नित्य और अविनाशी तो मानते हैं, किन्तु इसके साथ ही उसे सुख—दुःख आदि गुणों से युक्त भी मानते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में आत्मा सगुण है, वेदान्तादि उसको निर्गुण मानते हैं। बौद्ध दर्शन में आत्मा की स्वीकृति साक्षात् न मानी जाकर ज्ञान, अनुभूति और संकल्प के क्षण—क्षण में परिवर्तनशील विज्ञान सन्तान के रूप में मानी गई है।

दर्शनों की संख्या और उनका वर्गीकरण

संख्या–भारतीय दर्शन की बहुत–सी धाराओं का विकास हुआ, वे संख्या में कितनी हैं, इसका निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सुदूर अतीत से लेकर आज तक इनका विकास होता रहा है। इनमें से कुछ तो ऐसी भी हैं, जो बहुत ही कम प्रसिद्ध रही हैं और इसलिए प्रमुख दर्शनों की गणना में उनको स्थान नहीं मिल पाया। इसके अतिरिक्त इस अनिश्चय में गणनाकारों की अपनी रुचि भी इसमें बहुत बड़ी सीमा तक कारण रही है।

किसी ने यदि एक का उल्लेख किया है तो दूसरे ने उसे छोड़ दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि दर्शनों की वास्तविक संख्या के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थकारों में भी कभी ऐकमत्य नहीं रहा है। इस सम्बन्ध में प्रायः 'षड्दर्शन' शब्द सुनाई पड़ता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शनों की संख्या छह ही है; परन्तु ये छह दर्शन कौन–कौन से हैं, इस बारे में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि 'षड्दर्शन' शब्द बहुत पुराना नहीं है और इसके अन्तर्गत आने वाले दर्शनों के सम्बन्ध में प्रायः विवाद रहा है। जिस ग्रन्थकार को जिस दर्शन से विशेष प्रेम या परिचय रहा, उसने उसका समावेश 'षड्दर्शन' में कर दिया। स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है, इसलिए किसी एक ग्रन्थकार का आश्रय न लेकर अद्यावधि प्राप्त दर्शनों का यथासम्भव नामोल्लेख यहाँ इस रूप में किया जा सकता है।

सांख्य, योग, पाशुपत, लोकायत, पांचरात्र, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्याद्वैत आदि) मीमांसा, बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक) जैन, पाणिनीय (व्याकरण दर्शन) शैव, रसेश्वर, प्रत्यभिवाददर्शन। इनके अतिरिक्त आधुनिक काल में भी अरविन्द और गाँधी जैसे महान् विचारकों का जन्म हुआ, जिनकी अपनी दार्शनिक विचारधारा है और जिन्होंने आधुनिक भारतीय चिन्तन को बहुत प्रभावित किया है। फिर भी, ग्रन्थ की अपनी सीमा के कारण इसे प्राचीन दर्शनों तक ही सीमित रखा गया है।[11]

वर्गीकरण–भारतीय दर्शन यद्यपि मूल में अखण्ड और अविभाज्य हैं, फिर भी उसका विकास अनेक धाराओं के रूप में हुआ, जैसा कि हम देख चुके हैं। ये सभी दर्शन–धाराएँ अपने–अपने दृष्टिकोण से दृश्य और अदृश्य

जगत् से सम्बद्ध समस्याओं पर विचार करती हैं। यद्यपि इनके विकास क्रम को देखने पर इनमें अखण्डता ही दृष्टिगोचर होती है, तथापि अध्ययन की सुविधा और तन्मतावलम्बियों एवं प्रतिपादकों के भेद के आधार पर इनका वर्गीकरण कर लेना अत्यन्त उचित होगा।

प्राचीन वर्गीकरण—जैसा कि मध्यकाल में 'षड्दर्शन' के नाम से कुछ दर्शन धाराओं को एक विशिष्ट वर्ग में रखने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु उनमें किस—किस दर्शन को रखा जाये, इस सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं हो सका था। इसके साथ ही दर्शनों की संख्या के सम्बन्ध में भी ऐकमत्य नहीं था। आचार्य कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में केवल सांख्य, योग और लोकायत इन तीन दर्शनों की चर्चा करते हैं। 'शिवमहिम्नः स्तोत्र' में सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव दर्शनों का ही उल्लेख है।

शंकराचार्य ने 'सर्वसिद्धान्त संग्रह' में न्याय, वेशैषिक आदि के अतिरिक्त आर्हत (जैन) बौद्ध, चार्वाक आदि दस दर्शनों का उल्लेख किया है। जयन्त भट्ट ने बौद्ध और चार्वाकों के साथ केवल चार—मीमांसा, न्याय, वैशेषिक और सांख्य दर्शनों का ही उल्लेख किया। बारहवीं सदी के जैनाचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में बौद्ध, नैयायिक कपिल (सांख्य) जैन, वैशेषिक तथा जैमिनि (मीमांसा) – इन षड्दर्शनों का वर्णन किया।

तेरहवीं सदी के प्रसिद्ध जैन लेखक जिनदत्तसूरि ने भी अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में प्रसिद्ध षड्दर्शनों में से केवल मीमांसा और सांख्य को ही लिया और शेष चार में जैन, बौद्ध, शैव और चार्वाक को सम्मिलित किया। इसके बाद लिखे गए, माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' में प्रसिद्ध दर्शनों के साथ ही रामानुजीय पूर्णप्रज्ञ (माध्य) नकुलीश (पाशुपत) शैव, प्रत्यभिज्ञा (काश्मीर शैव) रसेश्वर (आवधूतिक) और पाणिनीय आदि कुल 26 दर्शनों का विवरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार से कुछ अन्य ग्रन्थों में भी भिन्न—भिन्न संख्या और भिन्न—भिन्न नाम वाले दर्शनों को स्थान मिला है।

इन भारतीय दर्शनों का एक और वर्गीकरण हो सकता है। हम जानते हैं कि इनमें से कुछ आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जबकि कुछ का उसकी सत्ता में विश्वास नहीं है। इस आधार पर इनके अनात्मवादी और आत्मवादी ये दो वर्ग सरलता से बन जाते हैं। इनमें से पहले वर्ग में चार्वाक और बौद्ध दर्शन आयेंगे और शेष सब दूसरे वर्ग में। इस प्रकार एक विशिष्ट तत्त्व की मान्यता और अमान्यता के आधार पर किया गया यह वर्गीकरण सभी को मान्य हो सकता है।[12]

आस्तिक और नास्तिक का वर्गीकरण—कुछ अन्य विद्वानों ने इनको आस्तिक और नास्तिक के रूप में वर्गीकृत किया है। इनमें 'आस्तिक' का अर्थ है—'है' इस प्रकार का विश्वास करने वाला और नास्तिक का अर्थ है—'नहीं है' इस प्रकार का विश्वास करने वाला। इन दोनों ही शब्दों की व्युत्पत्ति, पाणिनी के 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस सूत्र के नियमानुसार क्रमशः 'अस्ति इति मतिः यस्य सः और 'नास्ति इति मतिः यस्य सः' के रूप में की गई है।

सूत्र में यह स्पष्ट नहीं है कि यह अस्तित्व और अनस्तित्व किस वस्तु का है, किन्तु बाद में आचार्यों ने परलोक शब्द जोड़कर अभीष्ट वाक्य की पूर्ति की; इस प्रकार उनकी व्याख्या के अनुसार परलोक की सत्ता में विश्वास करने वालों को आस्तिक (अस्ति परलोकः इति मतिर्यस्य सः) और परलोक की सत्ता में विश्वास न करने वाले को नास्तिक (नास्ति परलोकः इति मतिर्यस्य सः) कहा गया है; परन्तु इस वर्गीकरण में वर्गीकरण जैसा कुछ नहीं है, क्योंकि सभी भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा है, जिसे उक्त अर्थ में नास्तिक कहा जा सकता है।

शेष सभी दर्शन परलोक में किसी न किसी रूप में विश्वास करने के कारण आस्तिक ही हैं और कोई भी वर्गीकरण केवल एक को तो अलग करने के लिए हो नहीं सकता। वस्तुतः इससे अच्छा वर्गीकरण तो भौतिक—अभौतिक के आधार पर हो सकता है।

परन्तु नास्तिक और आस्तिक शब्दों का अर्थ व्याकरणिक व्युत्पत्ति से न लेकर यदि हम 'मनुस्मृति' के अनुसार लें अर्थात् वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है (नास्तिको वेदनिन्दकः) और उसको प्रमाण मानने वाला आस्तिक है तो उपर्युक्त वर्गीकरण को बहुत उचित माना जा सकता है और इस आधार पर चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कोटि में रखा जाता है, क्योंकि वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते हैं, इसके विपरीत वेदों को किसी न किसी रूप में प्रमाण मानने के कारण वर्तमान में 'षड्दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त आदि दर्शन धाराएँ आस्तिक की कोटि में समाविष्ट होंगी।

उपनिषदों में आत्मज्ञान को बहुत महत्त्व दिया गया है। इस आत्मज्ञान का ही दूसरा नाम आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता का विकास और उन्नयन दर्शन के द्वारा ही सम्भव है। विपरीत ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान, जो

मानव को संसार में आसक्त करता है, का निःशेषीकरण दार्शनिक तत्त्व ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है।[13]

भारतीय दर्शनों का ऐतिहासिक क्रम

जैसा कि भारतीय दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया गया है – आस्तिक और नास्तिक। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि इन दोनों के सिद्धान्त यद्यपि बहुत प्राचीन हैं, क्योंकि भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में हमें दोनों ही दर्शन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है, किन्तु दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन हमें बताता है कि एक विशिष्ट दर्शन के रूप में सांख्य दर्शन का उद्‌भव सबसे पहले हुआ, यह दूसरी बात है कि उक्त दर्शन के निरूपक ग्रन्थ बहुत बाद में मिलते हैं।

यह समय निश्चय ही ईसा से हजारों वर्ष पूर्व रहा होगा। इसके बाद ही कुछ शताब्दियों में वैदिक विचारधाराओं से भिन्नता रखने वाली विचार धाराओं का दर्शन होता है, जिनके उदाहरण चार्वाक और आजीवक दर्शन के रूप में हमें आज उपलब्ध हैं। यद्यपि ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में भी हमें चार्वाक जैसे दार्शनिकों का स्वर सुनाई पड़ता है, किन्तु पहले की अपेक्षा कुछ मन्द रूप में, किन्तु इसके साथ ही कुछ अन्य अवैदिक धाराओं का स्वर भी सुनाई पड़ने लगा, जिनका प्रतिनिधित्व जैन और बौद्ध करते थे। इनमें भी कालक्रम की दृष्टि से जैनदर्शन का स्थान बौद्ध दर्शन की अपेक्षा पहले का है। इसके बाद सांख्येतर वैदिक दर्शनों का उदय किस क्रम से हुआ इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के अप्रतिम विद्वान डॉ. आर. के. आचार्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

"वैदिक परम्परा का चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि वैदिकोत्तरों के द्वारा प्रबल विरोध होने पर ईसा पूर्व की सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मूलतः वैदिक विचारधाराओं से सम्बन्ध रखनेवाली, किन्तु बाद में स्वतन्त्र रूप से विकसित होने वाली विचारधाराओं के समर्थकों को अपनी विचारधाराओं को न्यायसूत्र और वैशेषिक सूत्र आदि विभिन्न दर्शन सूत्रों के रूप में व्यवस्थित कर दिया और अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए चार्वाक, जैन और बौद्ध आदि विरोधियों के मतों का यथासम्भव निराकरण किया और जैसा कि इनके द्वारा भी मूल वैदिक विचारधाराओं की रक्षा नहीं हो पाती थी, अतः विशुद्ध वैदिक क्षेत्र के आचार्यों में से, एक ओर तो आचार्य जैमिनी ने वैदिक कर्मकाण्ड को दार्शनिक आधार देने के लिए पूर्व मीमांसा सूत्रों की रचना की और दूसरी

ओर आचार्य बादरायण ने वैदिक परम्परा के दर्शन–औपनिषद दर्शन को एक सुव्यवस्थित दर्शन–वेदान्तदर्शन रूप में प्रस्तुत करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना की। ब्रह्मसूत्रों में औपनिषद सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हुए सांख्य, वैशेषिक जैन एवं बौद्ध विरोधी मतों का निराकरण किया गया है।"[14]

आधुनिक काल में भी सामान्य रूप से समस्त भारतीय दर्शनों एवं विशिष्ट दर्शनों को लेकर प्राच्य और पाश्चात्य भाषाओं में एक विशाल साहित्य लिखा गया है जिनमें यद्यपि मौलिकता का अंश तो कम है, किन्तु उसने ऐतिहासिक विकासक्रम को दर्शाते हुए उनका जो तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसके कारण उसका महत्त्व कम नहीं है। वैदिक परम्परा वेदमूलक है। वैदिक–संस्कृति के वाहक वेदों की गणना विश्व की प्राचीनतम व उच्चतम कोटि के साहित्य में होती है। वेदों से प्राचीनतम धर्म, दर्शन, समाज व संस्कृति की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है –

(क) वेदों में अध्यात्म का स्वरूप :–

चूँकि वेद क्रियाकाण्ड में विश्वास करते हैं। अतः वेदों में अध्यात्म को अवकाश नहीं है। वेदों में अत्यल्प ही अध्यात्म का वर्णन है। जैसा कि मुण्डकोपनिषद में कहा गया है –

परा चैवाऽपरा च।।4।। मुण्डकोपनिषद।।01।।
तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदऽथर्ववेदः।।
अथ परा यया तद क्षर मधि गम्यते।।5।।[15]

अर्थात् दो विद्यायें जाननी चाहिए–परा विद्या और अपरा विद्या। ऋग्वेद आदि चारों वेद तथा तत्सम्बन्धी अन्य साहित्य वे सब अपरा विद्या अर्थात् सांसारिक विद्यायें हैं तथा जिस विद्या के द्वारा यह अन्तरात्मा, प्रत्यगात्मा, विविक्तात्मा जाना जाता है, वह परा विद्या है।

अर्थात् उपनिषद आदि अध्यात्म शास्त्रों को परा विद्या कहते हैं जबकि निरुक्तकार के मत में वेदों में अत्यल्प मन्त्र आध्यात्मिक हैं और उपनिषदों के मत से वेदों में अध्यात्म ज्ञान है ही नहीं अथवा यदि है भी तो वह नहीं के बराबर है।

इसकी पुष्टि गीता में की गई है। यथा –

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।2।42।।

श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चलाः।।
तथा त्रैगुण्या विषया वेदाः।।[16]

(ख) उपनिषदों में अध्यात्म का स्वरूप–

उपनिषदकारों ने अध्यात्म को इस प्रकार स्पष्ट किया है–

अथाऽध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणः।
णिच्चमणयदो दुचेदणा जस्स अथाध्यात्ममिदमेव
मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च।।4।। अथामूर्तं प्राणाश्च।।5।।

अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म (भाव प्राण और द्रव्य प्राण) प्राणों को अध्यात्म कहते हैं। ऐसे ही अन्य प्रमाण दिये जा सकते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्तरात्मा के ज्ञान को अध्यात्मविद्या या इसी का नाम परा विद्या भी है।

(1) उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी विचार–

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही परम तत्त्व है। वह ही एकमात्र सत्ता है। वह जगत् का सार है। वह जगत् की आत्मा है। 'ब्रह्म शब्द' 'बृ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है बढ़ना या विकसित होना। ब्रह्म को विश्व का कारण माना गया है। इससे विश्व की उत्पत्ति होती है और अन्त में विश्व ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म विश्व का आधार है।

एक विशेष उपनिषद् में वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता के पास पहुँचकर प्रश्न करता है कि मुझे उस यथार्थ सत्ता के स्वरूप का विवेचन कीजिये, जिसके अन्दर से समस्त विश्व का विकास होता है और फिर जिसके अन्दर समस्त विश्व समा जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है–वह जिससे इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई और जन्म होने के पश्चात् जिसमें ये सब जीवन धारण करते हैं और वह जिसके अन्दर मृत्यु के समय ये विलीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं। वे हैं– (1) परब्रह्म (2) अपरब्रह्म। परब्रह्म असीम, निर्गुण, निर्विशेष, निष्प्रपंच तथा अपरब्रह्म ससीम, सगुण, सविशेष एवं सप्रपंच है। परब्रह्म अमूर्त है, जबकि अपरब्रह्म मूर्त है। परब्रह्म स्थिर है, जबकि अपरब्रह्म अस्थिर है। परब्रह्म निर्गुण होने के फलस्वरूप उपासना का विषय नहीं है, जबकि अपर ब्रह्म सगुण होने के कारण उपासना का विषय है। परब्रह्म की व्याख्या 'नेति नेति' कहकर की

गई है, जबकि अपरब्रह्म की व्याख्या 'इति इति' कहकर की गई है। परब्रह्म को ब्रह्म तथा अपरब्रह्म को ईश्वर कहा गया है। सच तो यह है कि ब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों एक ही ब्रह्म के दो पक्ष हैं।

अभिप्राय यह है कि जो वेदवाद में रत हैं, वे लोग यज्ञादिक से ऊपर आत्मिकज्ञान को नहीं मानते तथा न ही मोक्ष आदि को मानते हैं। इसलिए ये लोग जब तक अध्यात्म ज्ञान से स्थिर बुद्धि नहीं होंगे, उस समय तक इनका कल्याण नहीं होगा। क्योंकि ये वेद तो त्रिगुणरूपी रस्सी हैं, जिससे जीवों को बाँधा जाता है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण आचार्यों का तथा ऋषि आदिकों का इस विषय में यही मत था कि वेदों में अध्यात्म विद्या नहीं के बराबर है। जो है वह याज्ञिक आडम्बर अथवा देवताओं की अलंकारिक स्तुतियों से तिरोभूत होकर प्रभावहीन और निःसार–सी दीख पड़ती है।

ब्रह्म के बारे में "भारतीय दर्शन की रूपरेखा" पुस्तक में इस प्रकार बताया है। उपनिषदों का ब्रह्म एक और अद्वितीय है। वह द्वैत से शून्य है। उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है। एक ही सत्य है। नानात्व अविद्या के फलस्वरूप दीखता है। इस प्रकार उपनिषदों के ब्रह्म की व्याख्या एकवादी कही जा सकती है।

ब्रह्म कालातीत है। वह नित्य और शाश्वत है। वह काल के अधीन नहीं है। यद्यपि ब्रह्म कालातीत है, फिर भी वह काल का आधार है। वह अतीत और भविष्य का स्वामी होने के बावजूद त्रिकाल से परे माना गया है।

ब्रह्म कारण से परे है। इसीलिए व परिवर्तनों के अधीन नहीं है। वह अजर, अमर है। परिवर्तन मिथ्या है। वह कारण से शून्य होते हुए भी व्यवहार जगत् का आधार है।[17]

उपनिषद् में ब्रह्म की निषेधात्मक व्याख्या पर जोर दिया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में 'नेति–नेति' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। याज्ञवल्क्य ने कहा है– ब्रह्म न यह और न वह है (नेति–नेति)। हम सिर्फ यह कह सकते हैं कि ब्रह्म क्या नहीं है, हम यह नहीं कह सकते कि वह क्या है। ब्रह्म की व्याख्या नकारात्मक शब्दों में वृहदारण्यक उपनिषद में इस प्रकार की गई है– वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, लघु नहीं है, दीर्घ नहीं है, छायामय नहीं है, अन्धकारमय नहीं है। वह रस तथा गन्ध से विहीन है। वह नेत्र तथा कान से विहीन है। उसमें वाणी नहीं है, श्वास नहीं है। उसमें न अन्दर है और न बाहर।

कठोपनिषद् में निषेधात्मक व्याख्या पर बल देते हुए कहा गया है कि ब्रह्म अशब्द, अरूप, अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अनादि और अनन्त है। तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्म को 'वाणी' एवं 'मन' से परे बतलाया गया है। ब्रह्म को न पाकर वाणी और मन लौट आते हैं। (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह) इस प्रकार नेति–नेति सिद्धान्त के द्वारा ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का बोध होता है। ब्रह्म की अनिर्वचनीयता से यह निष्कर्ष निकालना कि ब्रह्म असत् है भ्रामक होगा।

ब्रह्म अनन्तिम है। वह सभी प्रकार की सीमाओं से शून्य है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि ब्रह्म अज्ञेय है, सर्वथा गलत होगा। उपनिषद् में ब्रह्म को ज्ञान का आधार कहा गया है। वह ज्ञान का विषय नहीं है।

ब्रह्मज्ञान ही उपनिषदों का लक्ष्य है। ब्रह्मज्ञान के बिना कोई भी ज्ञान सम्भव नहीं है, उसे अज्ञेय कहना भ्रामक है। यद्यपि उपनिषद् में ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि ब्रह्म गुणों से शून्य है अनुचित होगा। ब्रह्म के तीन स्वरूप लक्षण बतलाये गये हैं। वह विशुद्ध सत्, विशुद्ध चित् और विशुद्ध आनन्द हैं। जिस सत्, चित् और आनन्द को हम व्यावहारिक जगत में पाते हैं; वह ब्रह्म का सत्, चित् और आनन्द नहीं है। ब्रह्म का सत् सांसारिक सत् से परे है। उसका चित् ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से परे है। ब्रह्म स्वभावतः सत्, चित् और आनन्द है। अतः उपनिषद् में ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' कहा गया है।

उपनिषदों में जीव और आत्मा :–

उपनिषदों में आत्मा को चरम तत्त्व माना गया है, आत्मा और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न हैं। उपनिषद् में आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता पर जोर दिया गया है। 'तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्य आत्मा और ब्रह्म की एकता पर बल देते हैं। शंकर ने भी आत्मा और ब्रह्म के अभेद पर जोर दिया है। आत्मा मूल चैतन्य है। वह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं है। मूल चेतना के आधार को ही आत्मा कहा गया है। वह नित्य और सर्वव्यापी है। आत्मा–विचार उपनिषदों का केन्द्र बिन्दु है। यही कारण है कि आत्मा की विशद व्याख्या उपनिषदों में निहित है।

प्रजापति और इन्द्र के वार्तालाप में प्रजापति आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह शरीर नहीं है। इसे वह भी नहीं कहा जा

सकता, जिसकी अनुभूति स्वप्न या स्वप्न रहित निद्रा अवस्था में होती है। आत्मा उन सब में रहने के बावजूद भी उससे परे है।

छान्दोग्य उपनिषद् में विवेचित आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का विवरण अपेक्षित है। प्रजापति ने आत्मा की विशेषताओं का विवरण करते हुए कहा है–'आत्मा जरा से मुक्त है रोग और मृत्यु से मुक्त है। पाप से मुक्त है। आत्मा शोक, भूख, प्यास से मुक्त है।" प्रजापति ने यथार्थ आत्मा को जानने के लिए लोगों को प्रेरित किया। देवताओं ने अपने प्रतिनिधि के रूप में इन्द्र को तथा दानवों ने अपने प्रतिनिधि के रूप में विरोचन को आत्मा की जानकारी के लिए भेजा।

प्रजापति ने उन दोनों को बत्तीस वर्ष तक कठिन तपस्या के उपरान्त, आत्मज्ञान के लिये आने का आदेश दिया। तपस्या की अवधि समाप्त होने के बाद दोनों प्रजापति के पास आये, तब प्रजापति ने इस प्रकार उपदेश देते हुए कहा–'जल में झाँकने पर या दर्पण में देखने पर, जो पुरुष दिखाई देता है, वही आत्मा है।' विरोचन इस मत से सन्तुष्ट हो गये और दानव–वर्ग में जाकर उन्होंने प्रचार किया कि जीवित शरीर ही आत्मा है, परन्तु इन्द्र को यह मत सन्तोषजनक नहीं लगा। यदि आत्मा शरीर की छाया मात्र है; तब शरीर के अन्धा, लँगड़ा, लूला होने पर आत्मा को भी अन्धा, लँगड़ा, लूला होना होगा। शरीर के अन्त हो जाने पर आत्मा का भी नाश होगा। इन्द्र अपनी शंका के समाधान हेतु प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने इन्द्र को बत्तीस वर्ष तपस्या के बाद आने का आदेश दिया।

तदनन्तर प्रजापति ने इस प्रकार उपदेश दिया–'स्वप्न के समय जो पुरुष स्वप्न देखता है, वही आत्मा है। स्वप्न–दृष्टा अर्थात् जो पुरुष स्वप्न में मुक्त विचरण करता हुआ दिखाई देता है, वही आत्मा है।' इन्द्र को पुनः सन्देह हुआ। यद्यपि स्वप्न–पुरुष शरीर के दोषों से प्रभावित नहीं होता फिर भी वह भयभीत तथा रोता हुआ प्रतीत होता है। ऐसी आत्मा का ज्ञान हितकर नहीं प्रतीत होता है।

इन्द्र अपनी शंका के समाधान हेतु पुनः प्रजापति के पास पहुँचते हैं जो उन्हें बत्तीस वर्ष और तप करने का आदेश देते हैं। तपस्या के उपरान्त जब इन्द्र प्रजापति के पास पहुँचते हैं, तब प्रजापति इस प्रकार उपदेश देते हुए कहते हैं– जो सुषुप्ति–पुरुष स्वप्न रहित प्रगाढ़ निद्रा में लिप्त रहता है,

वही आत्मा है।' इन्द्र को पुनः शंका हुई। सुषुप्ति पुरुष को किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती है। इसे सुख या दुःख का अनुभव नहीं हो पाता है। यहाँ न ज्ञान है और न संकल्प है। इस अवस्था में आत्मा शून्य के तुल्य प्रतीत होती है।

इन्द्र अपनी शंका के निवारण के लिए प्रजापति के पास पहुँचते हैं जो उन्हें पाँच वर्ष और तप करने का आदेश देते हैं। तपस्या की अवधि समाप्त होने के पश्चात् जब इन्द्र प्रजापति के पास पहुँचते हैं, तब प्रजापति सन्तुष्ट होकर उन्हें इस प्रकार उपदेश देते हैं–'वास्तविक आत्मा, आत्मचैतन्य, साक्षी, स्वप्रकाश है। यह स्वतः सिद्ध है यह प्रकाशों का प्रकाश है। यह आत्मा तीन अवस्थाओं का आधार है। जो इस आत्मा को जान लेता है उसकी सारी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं।' उपर्युक्त विवेचन में हम आत्मा की चार अवस्थाओं का विवरण पाते हैं –

1. शारीरिक आत्मा 2. आनुभविक आत्मा
3. विश्वातीत आत्मा 4. निरपेक्ष आत्मा

उपनिषदों के अनुसार जीव और आत्मा में भेद है। जीव और आत्मा उपनिषद् के अनुसार एक ही शरीर में अन्धकार और प्रकाश की तरह निवास करते हैं। जीव कर्म के फलों को भोगता है और सुख–दुःख अनुभव करता है। आत्मा इसके विपरीत कूटस्थ है, जीव अज्ञानी है। अज्ञान के फलस्वरूप उसे बन्धन और दुःख का सामना करना पड़ता है। आत्मा ज्ञानी है। आत्मा का ज्ञान हो जाने से जीव दुःख एवं बन्धन से छुटकारा पा जाता है। जीवात्मा कर्म के द्वारा, पुण्य–पाप का अर्जन करता है और उनके फल भोगता है, लेकिन आत्मा कर्म और पाप–पुण्य से परे है। वह जीवात्मा के अन्दर रहकर भी उसके किये हुए कर्मों का फल नहीं भोगता। आत्मा–जीवात्मा के भोगों का उदासीन साक्षी है।

'जीव और आत्मा दोनों को उपनिषद् में नित्य और अज माना गया है। उपनिषदों में जीवात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से अलग तथा इनसे परे है। वह ज्ञाता, कर्त्ता तथा भोक्ता है। उसका पुनर्जन्म कर्मों के अनुसार नियमित होता है। जीवात्मा अनन्त ज्ञान से शून्य है।'[18]

जीवात्मा की चार अवस्थाओं का संकेत उपनिषद् में है।

वे हैं – (1) जागृतावस्था, (2) स्वप्नावस्था, (3) सुषुप्तावस्था और (4) तुरीयावस्था।

जागृतावस्था में जीवात्मा 'विश्व' कहलाता है। वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा सांसारिक विषयों का भोग करता है।

स्वप्नावस्था में जीवात्मा 'तैजस' कहलाता है। वह आन्तरिक सूक्ष्म वस्तुओं को जानता है और उनका भोग करता है।

सुषुप्ति की अवस्था में जीवात्मा 'प्रज्ञा' कहलाता है, जो कि शुद्ध चित्त के रूप में विद्यमान रहता है। इस अवस्था में वह आन्तरिक या बाह्य वस्तुओं को नहीं देखता है। तुरीयावस्था में जीवात्मा को आत्मा कहा जाता है। वह शुद्ध चैतन्य है। तुरीयावस्था की आत्मा ही ब्रह्म है। माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा की इन अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में जीव के पाँच कोषों का वर्णन है – (1) अन्नमय कोष–स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है। यह अन्न पर आश्रित है। (2) प्राणमय कोष–अन्नमय कोष के अन्दर प्राणमय कोष है। यह शरीर में गति देने वाली प्राण शक्तियों से निर्मित हुआ है। यह प्राण पर आश्रित है। (3) मनोमय कोष–प्राणमय कोष के अन्दर मनोमय कोष है। यह मन पर निर्भर है। इसमें स्वार्थमय इच्छायें हैं। (4) विज्ञानमय कोष–मनोमय कोष के अन्दर 'विज्ञानमय कोष' है। यह बुद्धि पर आश्रित है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद करने वाला ज्ञान निहित है। (5) आनन्दमय कोष–विज्ञानमय कोष के अन्दर आनन्दमय कोष है। यह ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से शून्य चैतन्य है। इसमें आनन्द का निवास है। यह पारमार्थिक और पूर्ण है। यह आत्मा का सार है, न कि कोष। यही ब्रह्म है। इस आत्मा के ज्ञान से जीवात्मा बन्धन से छुटकारा पा जाता है। इस ज्ञान का आधार अपरोक्ष अनुभूति है।

चूँकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप आनन्दमय है, इसलिए आत्मा को सच्चिदानन्द भी कहा गया है। आत्मा शुद्ध सत्, चित्त और आनन्द का सम्मिश्रण है। आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा सत् + चित् + आनन्द है।

उपनिषदों में जगत सम्बन्धी विचार–

उपनिषद् दर्शन में जगत को सत्य माना गया है, क्योंकि जगत ब्रह्म

की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति का कारण है। जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी से पलता है और अन्त में उसी में समा जाता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है और उसी में प्रविष्ट हो जाता है। देश, काल, प्रकृति आदि ब्रह्म का आवरण हैं, क्योंकि सभी में ब्रह्म व्याप्त है। जिस प्रकार नमक पानी में घुल कर सारे पानी को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म पदार्थों के अन्दर व्याप्त हो जाता है।

उपनिषद् में कई स्थानों पर जगत को ब्रह्म का विकास माना गया है। ब्रह्म से जगत के विकास का क्रम भी उपनिषदों में निहित है। विकास का क्रम यह है कि सर्वप्रथम ब्रह्म से आकाश का विकास होता है। आकाश से वायु का, वायु से अग्नि का विकास होता है। जगत के विकास के अतिरिक्त उपनिषद् में जगत के पाँच स्तरों का उल्लेख हुआ है, जिसे 'पंचकोष' कहा जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय को पंचकोष कहा गया है। भौतिक पदार्थ को अन्नमय कहा गया है। पौधे प्राणमय हैं, पशु मनोमय है। मनुष्य को विज्ञानमय तथा विश्व के वास्तविक स्वरूप को आनन्दमय कहा गया है।

सृष्टि की व्याख्या उपनिषदों में सादृश्यता एवं उपमाओं के बल पर की गयी है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, सोने से गहने बन जाते हैं, मोती से चमक उत्पन्न होती है, बाँसुरी से ध्वनि निकलती है; वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है। मकड़ी की उपमा से भी जगत के विकास की व्याख्या की गई है। जिस प्रकार मकड़ी के अन्दर से उसके द्वारा बनाये गये जल के धागे निकलते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म से सृष्टि होती है। सृष्टि को ब्रह्म की लीला भी माना गया है, क्योंकि यह आनन्ददायक खेल है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि 'उपनिषदों में कहीं भी विश्व को एक भ्रमजाल नहीं कहा गया है। उपनिषद् के ऋषिगण प्राकृतिक जगत् के अन्दर जीवन–यापन करते रहे और उन्होंने इस जगत् से दूर भागने का विचार तक नहीं किया। जगत् को कहीं भी उपनिषद् में निर्जन एवं शून्य नहीं माना गया है। अतः उपनिषद् जगत् से पलायन की शिक्षा नहीं देता है।'[19]

उपनिषदों में माया और अविद्या सम्बन्धी विचार –

उपनिषदों में माया और अविद्या का विचार भी पूर्णतः व्याप्त है।

शंकर के माया एवं अविद्या सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि शंकर ने इन्हें बौद्ध दर्शन से ग्रहण किया है। यदि यह सत्य नहीं है तो माया सम्बन्धी विचार शंकर के मन की उपज है। दोनों विचार भ्रामक प्रतीत होते हैं। शंकर ने माया और अविद्या सम्बन्धी धारणा को उपनिषद् से ग्रहण किया है। प्रो. राना डे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक । Constructive survey of Upanisadic Philosophy में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि माया और अविद्या विचार का स्रोत उपनिषद् हैं।

उपनिषदों में अनेक स्थानों पर माया एवं अविद्या की चर्चा हुई है, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं –

– श्वेताश्वेतर उपनिषद् में कहा गया है कि ईश्वर मायाविन है। माया ईश्वर की शक्ति है, जिसके बल पर वह विश्व की सृष्टि करता है।

– छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि आत्मा एक चरम तत्त्व है। शेष सभी वस्तुएँ नाम रूप मात्र हैं।

– प्रश्न उपनिषद् में कहा गया है कि हम ब्रह्म को तब तक प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक कि हम भ्रम की अवास्तविकता से मुक्त नहीं होते हैं।

– वृहदारण्यक उपनिषद में अवास्तविकता की तुलना असत् एवं अन्धकार से की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में विद्या की तुलना शक्ति से तथा अविद्या की तुलना अशक्ति से हुई है।

– श्वेताश्वेतर उपनिषद में ईश्वर की उपासना को माया की निवृत्ति के लिए अपेक्षित माना गया है। कहा गया है कि 'हम ईश्वर की उपासना के द्वारा माया से निवृत्ति पा सकते हैं।'

– छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार जगत के असत्यों में सत्य तथा अनिश्चितताओं में निश्चितता निहित है। माया सत्य पर पर्दा डाल देती है तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को छिपा देती है।

– वृहदारण्यक उपनिषद् में असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर ले चलने की प्रार्थना की गई है। इससे प्रमाणित होता है कि अविद्या को असत्, अन्धकार तथा मृत्यु के तुल्य माना गया है।

– मुण्डक उपनिषद् में अविद्या को ग्रन्थि कहा गया है, जिसे खोलने पर ही आत्मा का दर्शन सम्भव है।

बन्ध और मोक्ष

अन्य भारतीय दर्शनों की तरह उपनिषद् में बन्धन एवं मोक्ष का विचार निहित है। मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है।

अविद्या बन्धन का कारण है। अविद्या के कारण बन्धन उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही जीवों को बन्धन–ग्रस्त कर देता है। इसके प्रभाव में जीव इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अथवा शरीर से तादात्म्य करने लगता है। बन्धन की अवस्था में जीवों को ब्रह्म, आत्मा, जगत् के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह अवास्तविक एवं क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है। बन्धन को उपनिषद में 'ग्रन्थि' भी कहा गया है। ग्रन्थि का अर्थ है–बँध जाना।

विद्या से ही मोक्ष सम्भव है; क्योंकि अन्धकार का छुटकारा विद्या से ही सम्भव है। विद्या के विकास के लिए उपनिषद् में नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है। इन अनुशासनों में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह प्रमुख है।

मोक्ष की अवस्था में जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्यता हो जाती है। जीव का ब्रह्म से एकत्र हो जाना ही मोक्ष है। जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर एक हो जाती है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है। इस प्रकार मुक्ति ऐक्य का ज्ञान है। मोक्ष की अवस्था में एक ब्रह्म की अनुभूति होती है तथा सभी भेदों का अन्त हो जाता है।

उपनिषद में मोक्ष को आनन्दमय अवस्था माना गया है। मोक्ष की अवस्था में जीव का ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। ब्रह्म आनन्दमय है, इसलिए मोक्षावस्था को भी आनन्दमय माना गया है। उपनिषद् में जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों अवधारणा को स्वीकारा गया है। कठ उपनिषद में कहा गया है कि जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, उस समय मर्त्य अमर हो जाता है। वह इसी शरीर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

जीवन मुक्त संसार में रहता है, परन्तु संसार की अपूर्णताओं से प्रभावित नहीं हो पाता है। वह कर्म–नियम की अधीनता से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार जल कमल के पत्तों पर नहीं ठहर पाता है, उसी प्रकार कर्म

जीव मुक्त पर नहीं चिपकते हैं। प्रारब्ध कर्मों के क्षय हो जाने पर जीवनमुक्त विदेहमुक्त हो जाता है। उपनिषद् में क्रम–मुक्ति या क्रमशः मुक्ति का विवरण मिलता है। मुक्ति एकाएक नहीं प्राप्त होती है, अपितु क्रमशः या क्रमिक रूप से प्राप्त होती है। उपनिषद् में मुक्ति को अप्राप्तस्य प्राप्ति नहीं माना गया है; क्योंकि यह आत्मा का निजी गुण है। इसलिए मुक्ति को 'प्राप्तस्य प्राप्ति' कहा गया है। इस प्रसंग की व्याख्या के लिए वृहदारण्यक उपनिषद् में एक राजकुमार का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जिसका संयोगवश लालन–पालन बचपन से ही एक शिकारी के घर में होता है; पर जो बाद में जान लेता है कि वह राजकुमार है। उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त बन्ध–आत्मा को अपनी वास्तविक स्थिति का भान होता है।

उपनिषद् में मोक्ष की प्राप्ति कर्म के द्वारा नहीं मानी गई है। कर्म में कर्ता और कार्य का भेद निहित है। इसलिए कर्म के द्वारा जीवात्मा का ब्रह्म के साथ एकरूपता का ज्ञान सम्भव नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति, उपनिषद् के अनुसार ज्ञान अर्थात् विद्या के द्वारा है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि 'ब्रह्म विद्ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो ब्रह्म को जान लेता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। यही कारण है कि नचिकेता यम के द्वारा दिये गये सारे प्रलोभनों को ठुकरा देता है; क्योंकि ये आत्म–ज्ञान की प्राप्ति में बाधक होंगे। ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपनिषद् में एक पद्धति की चर्चा हुई है, जिसके तीन चरण हैं –

(1) **श्रवण**–जो व्यक्ति मोक्ष की कामना रखता है, उसे उपनिषद् के सिद्धान्तों का गुरु के आश्रम में जाकर सुनना चाहिए। यह कार्य श्रद्धापूर्वक होना चाहिए।

(2) **मनन**–यह दूसरी सीढ़ी है। मनन की अवस्था में गुरु से प्राप्त उपदेशों पर चिन्तन और विचार करना अपेक्षित है। इस अवस्था में तार्किक प्रक्रिया के द्वारा उपदेशों पर विचार करना वांछनीय है।

(3) **निदिध्यासन**–निदिध्यासन ध्यान का पर्याय है। इस अवस्था में जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसे योगाभ्यास के द्वारा पुष्ट बनाने की दिशा में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

उपर्युक्त प्रक्रियाओं के पालन के फलस्वरूप बन्धन ग्रस्त आत्मा मुक्त हो जाती है। इस प्रकार बन्धन ग्रस्त आत्मा की प्रार्थना 'मुझे असत् से

सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो' की पूर्ति हो जाती है।

(ग) न्याय दर्शन में अध्यात्म

न्याय–दर्शन ईश्वरवादी दर्शन है। न्यायदर्शन के पंचावयव वाक्य प्रमुखतम प्रतिपाद्य हैं। उसकी इसी प्रमुखता के कारण ही उसे परमन्याय कहा गया है। सोऽयं परमो न्यायः।[20] वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। न्यायसूत्र में जिसके रचयिता गौतम हैं, ईश्वर का उल्लेख मिलता है। कणाद ने ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है। बाद के वैशेषिक ने ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण चर्चा की है।

इस प्रकार न्याय–वैशेषिक दोनों दर्शनों में ईश्वर की प्रामाणिकता मिली है, दोनों में अन्तर केवल मात्रा का है। न्याय ईश्वर पर अत्यधिक जोर देता है, जबकि वैशेषिक में उस पर उतना जोर नहीं दिया गया है। यही कारण है कि न्याय के ईश्वर सम्बन्धी विचार भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्रमाण–शास्त्र के बाद न्याय–दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग ईश्वर विचार है। न्याय–ईश्वर को प्रस्थापित करने के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत करता है। उन तर्कों को जानने के पूर्व न्याय द्वारा प्रतिष्ठापित ईश्वर का स्वरूप जानना अपेक्षित है।

न्याय ने ईश्वर को एक आत्मा कहा है, जो चैतन्य से युक्त है।[21] न्याय के मतानुसार आत्मा दो प्रकार की होती है – (1) जीवात्मा (2) परमात्मा। परमात्मा को ही ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर जीवात्मा से पूर्णतः भिन्न है। ईश्वर का ज्ञान नित्य है। वह नित्य ज्ञान के द्वारा सभी विषयों का अपरोक्ष ज्ञान रखता है; परन्तु जीवात्मा का ज्ञान अनित्य, आंशिक और सीमित है। ईश्वर सभी प्रकार की पूर्णता से युक्त है, जबकि जीवात्मा अपूर्ण है। ईश्वर न बद्ध है और न मुक्त। बन्धन और मोक्ष शब्द का प्रयोग ईश्वर पर नहीं लागू किया जा सकता। जीवात्मा इसके विपरीत पहले बन्धन में रहता है और बाद में मुक्त होता है। ईश्वर जीवात्मा के कर्मों का मूल्यांकन कर अपने को पिता के तुल्य सिद्ध करता है। ईश्वर जीवात्मा के प्रति वही व्यवहार रखता है। जैसा व्यवहार एक पिता अपने पुत्र के प्रति रखता है।

ईश्वर विश्व का सृष्टा, पालक और संहारक है। ईश्वर विश्व की सृष्टि शून्य से नहीं करता है। वह विश्व की सृष्टि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के परमाणुओं तथा आकाश, दिक्, काल, मन तथा आत्माओं के द्वारा करता

है। यद्यपि ईश्वर विश्व की सृष्टि अनेक द्रव्यों के माध्यम से करता है, फिर भी ईश्वर की शक्ति सीमित नहीं हो पाती। ये द्रव्य ईश्वर की शक्ति को सीमित नहीं करते, क्योंकि ईश्वर और इन द्रव्यों के बीच आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। यद्यपि सृष्टि का उपादान कारण चार प्रकार के परमाणुओं को ही ठहराया जा सकता है, फिर भी ईश्वर का हाथ सृष्टि में अनमोल है। परमाणुओं के संयोजन से सृष्टि होती है परन्तु ये परमाणु गतिहीन माने गये हैं।

परमाणुओं में गति का संचालन ईश्वर के द्वारा होता है। अतः ईश्वर के अभाव में सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जगत की व्यवस्था और एकता का कारण परमाणुओं का संयोग नहीं कहा जा सकता। सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ व्यक्ति ईश्वर है। इस प्रकार विश्व की सृष्टि ईश्वर के सर्वशक्तिमान और सर्वत्र होने का प्रमाण है।[22] ईश्वर विश्व का पालनकर्ता भी है। वह विश्व की विभिन्न वस्तुओं को स्थिर रखने में सहायक होता है। यदि ईश्वर विश्व को धारण नहीं करे तो समस्त विश्व का अन्त हो जाए। विश्व को धारण करने की शक्ति सिर्फ ईश्वर में ही है। ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान है। ईश्वर की इच्छा के बिना विश्व का एक पत्ता भी नहीं गिर सकता।

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर का वर्णन इस प्रकार किया है –

ईश्वरोऽयं निराधारः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान्।
अनादिरविकारी चानन्तः सर्वगतो विभुः।।
सच्चिदानन्दरूपोऽपि दयालुन्यायतत्परः।
सर्गे स्थितो लये हेतुः नित्यं तृप्तो निराश्रयः।।

अर्थात् ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दरूप, दयालु, न्यायकारी तथा सृष्टि की रचना, पालन एवं संहार का हेतु है। वह सदा तृप्त है, किसी के आश्रय में नहीं रहता। संक्षेप में ईश्वर के विषय में न्याय की यही मान्यता है।

न्याय दर्शन के आत्मा, बन्धन एवं मोक्ष सम्बन्धी विचार–

आत्म विचार–न्याय के मतानुसार आत्मा एक द्रव्य है। सुख–दुःख, राग–द्वेष, इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के गुण हैं। धर्म और अधर्म भी आत्मा के गुण हैं और शुभ, अशुभ कर्मों से उत्पन्न होते हैं।

न्याय आत्मा को स्वरूपतः अचेतन मानता है। आत्मा में चेतना का संचार एक विशेष परिस्थिति में होता है, चेतन का उदय आत्मा में तभी होता है।[23] जब आत्मा का सम्पर्क मन के साथ तथा मन का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है तथा इन्द्रियों का ब्राह्य जगत् के साथ सम्पर्क होता है। यदि आत्मा का ऐसा सम्पर्क न हो तो आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव नहीं हो सकता है।

इस प्रकार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। आत्मा वह द्रव्य है, जो स्वरूपतः चेतन न होने के बावजूद भी चैतन्य को धारण करने की क्षमता रखती है। आत्मा का स्वाभाविक रूप सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्था में दिख पड़ता है। जब वह चैतन्य गुण से शून्य रहती है। जागृत अवस्थाओं में मन, इन्द्रियाँ तथा बाह्य जगत में सम्पर्क होने के कारण आत्मा में चैतन्य का उदय होता है। न्याय का आत्मविचार जैन और सांख्य के आत्म–विचार का विरोधी है। जैन और सांख्य दर्शनों में आत्मा को स्वरूपतः चेतन माना गया है। इन दर्शनों में चैतन्य को आत्मा का गुण कहने के बजाय स्वभाव माना गया है।

आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर को अपनी चेतना नहीं है। शरीर जड़ है, परन्तु आत्मा चेतन है आत्मा शरीर के अधीन है। इसलिए शरीर आत्मा के बिना क्रिया नहीं कर सकता है।[24]

आत्मा बाह्य इन्द्रियों से भिन्न है; क्योंकि कल्पना, विचार आदि मानसिक व्यापार बाह्य इन्द्रियों के कार्य नहीं हैं।[25] आत्मा मन से भी भिन्न है। न्याय–दर्शन में मन को अणु माना गया है। अणु होने के कारण मन अप्रत्यक्ष है। मन को आत्मा मानने से सुख, दुःख भी मन ही के गुण होंगे तथा वे अणु की तरह अप्रत्यक्ष होंगे; परन्तु सुख, दुःख की प्रत्यक्ष अनुभूति हमें मिलती है, जो यह प्रमाणित करता है कि सुख, दुःख मन के गुण नहीं हैं; अतः मन को आत्मा नहीं माना जा सकता है।

आत्मा को मन का प्रवाह मानना भी अप्रमाण–संगत है। यदि हम आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मात्र मानते हैं तो वैसी हालत में स्मृति की व्याख्या करना असम्भव हो जाता है, अतः बौद्ध दर्शन ने आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मानकर भारी भूल की है।

आत्मा को शुद्ध चैतन्य मानना जैसा कि शंकर ने माना है भी भ्रामक है। इसका कारण यह है कि शुद्ध चैतन्य नामक कोई पदार्थ नहीं है। चैतन्य

को आत्मा मानने के बदले द्रव्य को आत्मा मानना, जिसका गुण चैतन्य हो, न्याय के मतानुसार मान्य है।

न्याय–दर्शन में आत्मा की अनेक विशेषताएँ बतलाई गई हैं।

आत्मा एक ज्ञाता है। जानना आत्मा का धर्म है, वह ज्ञान का विषय नहीं होता है। आत्मा भोक्ता है। वह सुख–दुःख का अनुभव करता है। आत्मा कर्ता है। न्याय भाष्य में कहा गया है कि आत्मा सबका दृष्टा सुख–दुःख को भोगने वाला और वस्तुओं को जानने वाला है। आत्मा नित्य है। आत्मा निरवयव है। सावयव विषयों का नाश होता है। आत्मा अवयवहीन होने के कारण अविनाशी है। ईश्वर भी न आत्मा को पैदा कर सकता है और न उसे मार ही सकता है।

यद्यपि आत्मा नित्य है, फिर भी आत्मा के कुछ अनित्य गुण हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा के अनित्य गुण हैं।

आत्मा कर्म नियम के अधीन है। अपने शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही आत्मा शरीर ग्रहण करती है। अतीत जन्म के कर्मों के अनुसार आत्मा के अन्दर एक अदृश्य शक्ति पैदा होती है। जो आत्मा के लिए एक उचित शरीर का चुनाव करती है। न्याय के मतानुसार आत्मा का पूर्व जन्म एवं पुनर्जन्म मानना पड़ता है।[26]

न्याय ने आत्मा को विभु माना है। यह काल और दिक् के द्वारा सीमित नहीं होती है। यद्यपि यह विभु है, फिर भी इसका अनुभव केवल शरीर के अन्दर ही होता है।

आत्माओं की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में एक भिन्न आत्मा का निवास है। बन्धन की अवस्था में यह निरन्तर आत्मा के साथ रहता है। न्याय–दर्शन जीवात्मा को अनेक मानकर अनेकात्मवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। न्याय का यह विचार जैन और सांख्य के विचार से मिलता है। न्याय का अनेकात्मवाद शंकर के आत्म–विचार का निषेध करता है। शंकर ने आत्मा को एक मानकर एकात्मवाद के सिद्धान्त को अपनाया है। न्याय शंकर के एकात्मवाद की आलोचना करते हुए कहता है कि यदि आत्मा एक होती तो एक व्यक्ति के अनुभव से सबको अनुभव हो जाता तथा एक व्यक्ति के बन्धन या मोक्ष से सबका बन्धन या मोक्ष हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता

है। इससे प्रमाणित होता है कि आत्मा अनेक हैं।

आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण

न्याय में आत्मा के अस्तित्व के कई प्रमाण दिये गये हैं, जो निम्न हैं –

1 इच्छा और द्वेष से आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है। किसी वस्तु की इच्छा का कारण है, भूतकाल में उस तरह की वस्तु को देखकर जो सुख मिलता था, उसका स्मरण होना। किसी वस्तु की इच्छा होना यह प्रमाणित करता है कि जिस आत्मा ने भूतकाल में किसी वस्तु को देखकर सुख का अनुभव किया था, वह आज भी उस तरह की वस्तु को देखकर उससे प्राप्त सुख का स्मरण करता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के प्रति द्वेष होना भी उस प्रकार की वस्तु से भूतकाल में जो दुःख मिला था, उसके स्मरण पर निर्भर है। स्थायी आत्मा के बिना इच्छा और द्वेष सम्भव नहीं हैं।

2 सुख और दुःख भी आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। जब किसी वस्तु को देखने से आत्मा को सुख और दुःख का अनुभव होता है तो इसका अर्थ यह है कि आत्मा को उस समय यह स्मरण हो जाता है कि भूतकाल में उस तरह की वस्तु से उसे सुख या दुःख मिला था।

3 ज्ञान से भी आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है। हमें किसी चीज को जानने की इच्छा होती है। इसके बाद हमें संशय होता है कि सामने वही चीज है अथवा दूसरी, अन्त में हमें उस चीज का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। जिसे इच्छा होती है, जो संशय करता है और जो अन्त में निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करता है, वह एक ही आत्मा है।

4 चार्वाक का कहना है कि चैतन्य शरीर का गुण है। न्याय इस मत का खण्डन करता है, यदि चैतन्य शरीर का आवश्यक गुण होता तो मृत्यु के बाद भी उसमें यह गुण बना रहता तथा जीवन काल में चैतन्य का नाश नहीं होता, परन्तु मृत्यु और मूर्च्छा यह प्रमाणित करता है कि शरीर चैतन्यरहित हो जाता है। अतः चैतन्य को शरीर का आवश्यक गुण कहना भ्रामक है। यदि चैतन्य को शरीर का आगन्तुक गुण माना जाए तो उसके उदय होने का कारण शरीर से भिन्न कोई चीज होनी चाहिए। इससे प्रमाणित होता है, चैतन्य शरीर का गुण नहीं है।

5 चैतन्य को ज्ञानेन्द्रियों का गुण मानना भ्रामक है। ज्ञानेन्द्रियाँ

भौतिक तत्त्वों से निर्मित हुई हैं। जिस प्रकार शरीर चैतन्य से शून्य है, उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ भी चैतन्य–गुण से युक्त नहीं हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के साधन हैं, आत्मा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान नहीं हैं, जो ज्ञान नहीं है, उनका गुण चैतन्य को मानना भ्रान्तिमूलक है। आत्मा इसके विपरीत ज्ञाता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि चैतन्य आत्मा का गुण है।

6 स्मृति या प्रत्यभिज्ञा को समझाने के लिए आत्मा को मानना आवश्यक है। यदि आत्मा को नहीं माना जाए तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं हो सकते हैं। अब प्रश्न उठता है कि आत्मा का ज्ञान किस प्रकार होता है? प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती है। आत्मा का ज्ञान इनके अनुसार प्राप्त वचनों अथवा अनुमान से प्राप्त होता है। नव्य–नैयायिकों का कहना है कि आत्मा का ज्ञान मानस–प्रत्यक्ष से होता है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि रूपों में ही आत्मा का मानस–प्रत्यक्ष होता है।

बन्ध एवं मोक्ष विचार

न्याय दर्शन में अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष के स्वरूप और उसके साधन की चर्चा करने के पूर्व बन्धन के सम्बन्ध में कुछ जानना अपेक्षित होगा।

न्याय के मतानुसार आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न है; परन्तु अज्ञान के कारण आत्मा, शरीर, इन्द्रिय अथवा मन से अपना पार्थक्य नहीं समझती। इसके विपरीत वह शरीर, इन्द्रिय और मन को अपना अंग समझने लगती है। इन विषयों के साथ वह तादात्म्यता हासिल करती है। इसे ही बन्धन कहते हैं। बन्धन की अवस्था में मानव मन में गलत धारणाएँ निवास करने लगती हैं।[27] इनमें कुछ गलत धारणाएँ निम्न हैं –

1. अनात्म तत्त्व को आत्मा समझना।
2. क्षणिक वस्तु को स्थायी समझना।
3. दुख को सुख समझना।
4. अप्रिय वस्तु को प्रिय समझना।
5. कर्म एवं कर्म फल का निषेध करना।
6. अपवर्ग के सम्बन्ध में सन्देह करना।

बन्धन की अवस्था में आत्मा को सांसारिक दुःखों के अधीन रहना पड़ता है। बन्धन की अवस्था में आत्मा को निरन्तर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार जीवन के दुःखों को सहना तथा पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना ही बन्धन है, बन्धन का अन्त मोक्ष है।

नैयायिकों के अनुसार मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है। मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग का अर्थ है–शरीर और इन्द्रियों के बन्धन से आत्मा का मुक्त होना, जब तक आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन ग्रसित रहती है तब तक उसे दुःख से पूर्ण छुटकारा नहीं मिल सकता है।[28] गौतम ने दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद को मोक्ष कहा हैं। हमें प्रगाढ़ निद्रा के समय, किसी रोग से विमुक्त होने पर दुःख से छुटकारा मिलता है, उसे मोक्ष नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि इन अवस्थाओं में दुःख से छुटकारा कुछ ही काल तक के लिए मिलता है, पुनः दुःख की अनुभूति होती है। मोक्ष इसके विपरीत दुःखों से हमेशा के लिए मुक्त हो जाने का नाम है।

नैयायिकों के मतानुसार मोक्ष एक ऐसी अवस्था है, जिसमें आत्मा के केवल दुःखों का ही अन्त नहीं होता है बल्कि उसके सुखों का भी अन्त हो जाता है। मोक्ष की अवस्था को आनन्दविहीन माना गया है। आनन्द सर्वदा दुःख से मिले रहते हैं। दुःख के अभाव में आनन्द का भी नाश हो जाता हैं।

कुछ नैयायिकों का कहना है कि आनन्द की प्राप्ति शरीर के माध्यम से होती है। मोक्ष में शरीर का नाश हो जाने से आनन्द का भी अभाव हो जाता है। इससे प्रमाणित होता है कि मोक्ष में आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाती है, वह सुख–दुःख से शून्य होकर बिलकुल अचेतन हो जाती है। किसी प्रकार की अनुभूति उसमें शेष नहीं रह जाती है। यह आत्मा की चरम अवस्था है। इसका वर्णन अभयम्, अजरम्, अमृत्युपदम् आदि अभावात्मक रूपों में हुआ है। अब प्रश्न उठता है कि मोक्ष प्राप्त करने के उपाय क्या हैं? नैयायिकों के अनुसार सांसारिक दुःखों या बन्धन का मूल कारण अज्ञान है।

अज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है। जैसा रज्जु के ज्ञान से सर्प का ज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है। शरीर को आत्मा समझना मिथ्याज्ञान है। इस

मिथ्याज्ञान का नाश तभी हो सकता है, जब आत्मा अपने को इन्द्रियों या मन से भिन्न समझे। इसलिए तत्त्वज्ञान को अपनाना आवश्यक है।

मोक्ष पाने के लिए न्याय दर्शन में श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर जोर दिया गया है।

श्रवण—मोक्ष पाने के लिए शास्त्रों का विशेष रूप से उनके आत्मा विषयक उपदेशों को सुनना चाहिए।

मनन—शास्त्रों से आत्मा विषयक ज्ञान पर विचार करना चाहिए तथा सुदृढ़ बनाना चाहिए।

निदिध्यासन—मनन के बाद योग के बतलाये गये मार्ग के अनुसार आत्मा का निरन्तर ध्यान करना अपेक्षित है; इसे निदिध्यासन कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—ये योग के आठ अंग हैं।

इन अभ्यासों का फल यह होता है कि मनुष्य आत्मा को शरीर से भिन्न समझने लगता है। मनुष्य के इस मिथ्याज्ञान 'मैं शरीर और मन हूँ' का अन्त हो जाता है। उसे आत्मज्ञान होता है। आत्मा को जकड़ने वाले धर्म और अधर्म का सर्वप्रथम नाश हो जाने से शरीर और ज्ञानेन्द्रियों का नाश हो जाता है। आत्मा की वासनाओं एवं प्रकृतियों पर विजय होती है। इस प्रकार आत्मा पुनर्जन्म एवं दुख से मुक्त हो जाती है। यही अपवर्ग है। न्याय दर्शन में सिर्फ विदेह मुक्ति को प्रामाणिकता मिली है। जीवन मुक्ति जिसे बौद्ध, सांख्य, शांकर मानते हैं, किन्तु नैयायिकों को मान्य नहीं है।

न्याय के मोक्ष विचार की काफी आलोचना हुई है। न्याय में मोक्ष को अभावात्मक अवस्था कहा है। इस अवस्था की प्राप्ति से सभी प्रकार के ज्ञान सुख—दुःख, धर्म—अधर्म का नाश हो जाता है, इसलिए वेदान्तियों ने न्याय के मोक्ष सम्बन्धी विचार की आलोचना यह कहकर की है कि यहाँ आत्मा पत्थर के समान हो जाती है। मोक्ष का आदर्श इस प्रकार उत्साहवर्धक नहीं रहता है। ऐसे मोक्ष को अपनाने के लिए प्रयत्नशील रहना जिसमें आत्मा पत्थर के समान हो जाती है, बुद्धिमत्ता नहीं है।

कुछ आलोचकों ने इसलिए न्याय के मोक्ष को एक अर्थहीन शब्द कहा हैं। एक वैष्णव विचारक न्याय के मोक्ष—विचार की आलोचना करते हुए कहते हैं कि न्याय—दर्शन में जिस प्रकार की मुक्ति की कल्पना की गई है,

उसे प्राप्त करने से अच्छा तो यह है कि हम सियार बनकर वृन्दावन के सुन्दर जंगल में विचरण करें।

न्याय ने मोक्ष को आनन्द से शून्य माना है, उसका कहना है कि आनन्द दुःख से मिश्रित रहता है। दुःख के अभाव में आनन्द का भी अभाव होता है, परन्तु नैयायिक यहाँ भूल जाता है कि आनन्द सुख से भिन्न है। मोक्ष में जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह सांसारिक दुख और सुख से परे है, अतः मोक्ष को आनन्दमय मानना भ्रामक नहीं है।

नैयायिकों को इन कठिनाइयों से आगे चलकर अवगत होता है कि नव्य–नैयायिकों ने मोक्ष को आनन्दमय अवस्था माना है, परन्तु मोक्ष को आनन्दमय मानना न्याय के आत्मा सम्बन्धी विचार से असंयत है। इसे मानने के लिए आत्मा को स्वरूपतः चेतन मानना आवश्यक है।

निष्कर्षतः न्यायदर्शन को अध्यात्म विद्या या मोक्ष का शास्त्र नहीं मानना और यह कहना कि न्याय, तत्त्वज्ञान और मोक्ष को छोड़कर केवल वाद–विज्ञान में ही कौशल प्राप्त करने का ही उसका लक्ष्य है– न्याय संगत नहीं है। न्यायदर्शन में वर्णित मोक्ष का स्वरूप तथा उसको प्राप्त करने के साधन एवं जीवनमुक्ति की चर्चा के आधार पर यह अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि न्यायदर्शन भी उतना ही आध्यात्मिक दर्शन है।[29]

(घ) वैशेषिक दर्शन में अध्यात्म का स्वरूप

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को आस्तिक और नास्तिक वर्गों में विभाजित किया गया है। वैशेषिक दर्शन भारतीय विचारधारा में आस्तिक दर्शन कहा जाता है, क्योंकि वह अन्य आस्तिक दर्शनों की तरह वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करता है। इस दर्शन का प्रणेता कणाद को ठहराया जाता है। उनके विषय में कहा जाता है कि वे अन्न–कणों को खेत से चुनकर अपना जीवन निर्वाह किया करते थे, इसीलिए उनका नाम कणाद पड़ा–ऐसा विद्वानों के द्वारा बताया जाता है। कणाद का असल नाम उलूक था, इसी कारण वैशेषिक दर्शन को कणाद अथवा औलूक्य दर्शन की भी संज्ञा दी जाती है।[30]

वैशेषिक दर्शन को वैशेषिक–दर्शन कहलाने का कारण यह बतलाया जाता है कि इस दर्शन में विशेष नामक पदार्थ की व्याख्या की गई है। विशेष को मानने के कारण ही इसे 'वैशेषिक' कहा जाता है।[31]

वैशेषिक दर्शन का विकास 300 ई. पूर्व हुआ माना जाता है। वैशेषिक के ज्ञान का आधार **'वैशेषिक सूत्र'** कहा जाता है, जिसका रचयिता महर्षि कणाद को कहा जाता है। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्र पर एक भाष्य लिखा, जिसे पदार्थ धर्म–संग्रह कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन का ज्ञान श्रीधर द्वारा लिखित पदार्थ धर्म–संग्रह की टीका से भी मिलता है।

न्याय और वैशेषिक को समान–तन्त्र कहलाने का प्रधान कारण यह है कि दोनों ने मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य कहा है। मोक्ष दुःख विनाश की अवस्था है। दोनों ने माना है कि बन्धन का कारण अज्ञान है। अतः तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्ष को अपनाया जा सकता है। इस सामान्य लक्ष्य को मानने के कारण दोनों दर्शनों में परतन्त्रता का सम्बन्ध है।[32]

न्याय–दर्शन का मूल उद्देश्य प्रमाण–शास्त्र और तर्कशास्त्र का प्रतिपादन करना है। प्रमाण–शास्त्र और तर्क शास्त्र के क्षेत्र में न्याय का योगदान अद्वितीय कहा जा सकता है। वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य इसके विपरीत तत्त्वशास्त्र का प्रतिपादन कहा जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का स्वरूप :–

न्याय–दर्शन में ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या पूर्ण रूप से हुई है। ईश्वर को प्रस्थापित करने के लिए न्याय ने प्रमाण का प्रयोग किया है। वैशेषिक दर्शन न्याय के ईश्वर सम्बन्धी विचारों को ग्रहण करता है। ईश्वर को सिद्ध करने के लिए न्याय में जितने प्रमाण दिये गये हैं, उन सबों की मान्यता वैशेषिक में है। न्याय की तरह वैशेषिक ने भी ईश्वर को विश्व का व्यवस्थापक तथा अदृष्ट का संचालक माना है, अतः न्याय की तरह वैशेषिक भी ईश्वरवाद का समर्थक है। जहाँ तक ईश्वर–शास्त्र का सम्बन्ध है, दोनों दर्शन एक–दूसरे पर आधारित हैं।

"वैशेषिक दर्शन में आत्मा की चर्चा पूर्णरूप से नहीं हुई है। कारण यह है कि न्याय का आत्मविचार वैशेषिक को पूर्णतः मान्य है। न्याय की तरह वैशेषिक ने भी आत्मा को स्वभावतः अचेतन कहा है। चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म माना गया है।"[33]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन एक–दूसरे का ऋण स्वीकार करते हैं। न्याय की व्याख्या वैशेषिक के बिना अधूरी है। वैशेषिक की व्याख्या भी न्याय के बिना अधूरी है। दोनों दर्शन मिलकर एक ही दर्शन के दो अविभाज्य अंग हैं। अतः दोनों दर्शनों को

समान तन्त्र कहना पूर्णतः संगत है।

वैशेषिक दर्शन में आत्मा का स्वरूप –

वैशेषिक दर्शन में आत्मा उस सत्ता को कहा गया है, जो चैतन्य का आधार है। इसलिए कहा गया है कि आत्मा वह द्रव्य है, जो ज्ञान का आधार है। वस्तुतः वैशेषिक ने दो प्रकार की आत्माओं को माना है– (1) जीवात्मा और (2) परमात्मा।

जीवात्मा की चेतना सीमित है, जबकि परमात्मा की चेतना असीमित है। जीवात्मा अनेक हैं, जबकि परमात्मा एक है। परमात्मा ईश्वर का दूसरा ही नाम है। ईश्वर की व्याख्या करने से पूर्व हम जीवात्मा की, जिसे साधारणतः आत्मा कहा जाता है, व्याख्या करेंगे।

वैशेषिक के मतानुसार ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म आदि आत्मा के विशेष गुण हैं। जीवात्मा अनेक हैं। जितने शरीर हैं, उतनी ही जीवात्मा होती हैं। प्रत्येक जीवात्मा में मन का निवास होता है, जिसके कारण इनकी विशिष्टता विद्यमान रहती है। आत्मा की अनेकता को वैशेषिक ने जीवात्माओं की अवस्थाओं में भिन्नता के आधार पर सिद्ध किया है। कुछ जीवात्मा सुखी हैं, कुछ दुःखी हैं, कुछ धनवान हैं, कुछ निर्धन हैं। ये विभिन्न अवस्थाएँ अनेक आत्माओं को प्रस्तावित करती हैं।[34]

वैशेषिक ने आत्मा को अमर माना है। यह अनादि और अनन्त है। आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए वैशेषिक ने कुछ युक्तियों का उपयोग किया है। वे ये हैं–(1) प्रत्येक गुण का कुछ न कुछ आधार होता है। चैतन्य एक गुण है। इस गुण का आश्रय शरीर, मन और इन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं। अतः इस गुण का आश्रय आत्मा है। चैतन्य आत्मा का स्वरूप गुण नहीं है; अपितु यह उसका आगन्तुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव तब होता है; जब आत्मा का सम्पर्क शरीर, इन्द्रियों और मन से होता है। आत्मा की यह व्याख्या सांख्य–योग की आत्मा की व्याख्या से भिन्न प्रतीत होती है। सांख्य–योग के मतानुसार चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है।

(2) जिस प्रकार कुल्हाड़ी का व्यवहार करने के लिए एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है; उसी प्रकार आँख, कान, नाक, आदि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करने वाला भी कोई होना चाहिए, वही आत्मा है।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को सुख–दुःख की अनुभूति होती है। इससे सिद्ध होता है कि सुख–दुःख किसी सत्ता के विशेष गुण हैं। सुख–दुःख, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, दिक् और काल के गुण नहीं हैं। अतः सुख–दुःख आत्मा ही के विशेष गुण हैं।

(4) नवजात शिशु जन्म के साथ–ही–साथ हँसता और रोता है। नवजात शिशु की ये अनुभूतियाँ सिद्ध करती हैं कि इस जीवन के पूर्व भी उसका अस्तित्व था। इससे आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है।

परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर की चेतना असीमित है, जबकि जीव की चेतना सीमित है। वह पूर्ण है, वह दयावान है। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि की है, ईश्वर ने वेद की रचना की है। ईश्वर जीवात्मा को उनके कर्मों के अनुरूप सुख–दुःख प्रदान करता है, ईश्वर कर्म फलदाता है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए ईश्वर की स्थापना हुई है। ईश्वर के अस्तित्व को अदृष्ट नियम की व्याख्या के लिए भी माना गया है। ईश्वर अदृष्ट नियम का संचालक है। वैशेषिक श्रुति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करता है।

वैशेषिक के द्रव्यों का वर्गीकरण भौतिकवादी नहीं है, क्योंकि वह भौतिक द्रव्यों के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है। वैशेषिक के द्रव्यों का वर्गीकरण अध्यात्मवादी भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भौतिक द्रव्यों की सत्ता स्वीकार करता है। वैशेषिक का द्रव्य–विचार वस्तुवादी है। वस्तुवाद उस दार्शनिक सिद्धान्त को कहा जाता है, जो वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतन्त्र मानता है। वैशेषिक का द्रव्य–वर्गीकरण वस्तुवादी कहा जाता है, क्योंकि वह द्रव्यों की सत्ता को ज्ञाता से स्वतन्त्र मानता है। वैशेषिक का द्रव्य–विचार अनेकवाद का समर्थन करता है। वैशेषिक द्रव्यों की संख्या अनेक मानता है। द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं –पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन।

इसीलिए वैशेषिक के द्रव्य का वर्गीकरण अनेकवादी कहा जाता है। सारांशतः न्याय और वैशेषिक में आत्मा के विषय में कोई उल्लेखनीय मतभेद नहीं है।

(ङ) सांख्य दर्शन में अध्यात्म निरूपणा

सांख्य दर्शन भारत का अत्यधिक प्राचीन दर्शन कहा जाता है। इसकी प्राचीनता के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। सांख्य के विचारों का संकेत

श्वेताश्वर, कठ आदि उपनिषदों में देखने को मिलता है। उपर्युक्त उपनिषदों में सांख्य के मौलिक प्रत्ययों, जैसे त्रिगुण, पुरुष, प्रकृति, अहंकार, तन्मात्रा आदि की चर्चा हुई है। उपनिषद के अतिरिक्त भगवद्गीता में प्रकृति और तीन गुणों का उल्लेख है।[35]

महाभारत में भी प्रकृति और पुरुष के भेद का विस्तृत वर्णन है। उपर्युक्त कृतियों में सांख्य दर्शन का उल्लेख उसकी प्राचीनता का पुष्ट और सबल प्रमाण है। साथ–ही–साथ इस दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों की समीक्षा 'न्यायसूत्र' अन्तर्भूत है। इससे यह सिद्ध होता है कि न्यायसूत्र और ब्रह्मसूत्र के निर्माण के पूर्व सांख्य–दर्शन का पूर्ण विकास हो चुका था।

सांख्य–दर्शन प्राचीन दर्शन होने के साथ ही साथ मुख्यदर्शन भी है। यह सत्य है कि भारतवर्ष में जितने दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ, उनमें वेदान्त सबसे प्रधान है; परन्तु वेदान्त दर्शन के बाद यदि यहाँ कोई महत्त्वपूर्ण दर्शन हुआ तो वह सांख्य ही है। प्रोफेसर मैक्समूलर ने भी वेदान्त के बाद सांख्य को ही महत्त्वपूर्ण माना है। यदि वेदान्त को प्रधान दर्शन कहें तो सांख्य को उप–प्रधान दर्शन कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। इनके सम्बन्ध में प्रामाणिक ढंग से कुछ कहना कठिन प्रतीत होता है। कुछ लोगों ने कपिल को ब्रह्मा का पुत्र, कुछ लोगों ने विष्णु का अवतार तथा कुछ लोगों ने अग्नि का अवतार माना है। इन विचारों को भले ही हम किंवदंतियाँ कहकर टाल दें, किन्तु यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि कपिल एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिन्होंने सांख्य दर्शन का प्रणयन किया। इनकी विशिष्टता का जीता–जागता उदाहरण हमें वहाँ देखने को मिलता है, जहाँ कृष्ण ने भगवद्गीता में कपिल को अपनी विभूतियों में गिनाया है। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' अर्थात् मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। डॉ. राधाकृष्णन् ने कपिल को बुद्ध से एक शताब्दी पूर्व माना है।

सांख्य दर्शन द्वैतवाद का समर्थक है। चरम सत्ताएँ दो हैं, जिनमें एक को प्रकृति और दूसरी को पुरुष कहा जाता है। पुरुष और प्रकृति एक–दूसरे के प्रतिकूल हैं। द्वैतवादी दर्शन होने के कारण सांख्य न्याय के अनेकवाद का ही सिर्फ विरोध नहीं करता है, अपितु न्याय के ईश्वरवाद और

सृष्टिवाद का भी खण्डन करता है। न्याय के ईश्वरवाद का विरोध कर सांख्य अनीश्वरवाद का प्रतिपादन करता है। सृष्टिवाद का विरोध कर सांख्य विकासवाद का समर्थन करता है। भारतीय दर्शन में विकासवाद का अकेला उदाहरण सांख्य ही है।

सांख्य दर्शन का आधार कपिल द्वारा निर्मित सांख्य सूत्र कहा जाता है। कुछ लोगों का मत है कि कपिल ने 'सांख्य प्रवचन सूत्र' जो सांख्य सूत्र का विस्तृत रूप है और 'तत्त्व समास' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि कपिल के दोनों ग्रन्थ नष्ट हो गए हैं। इन ग्रन्थों का कोई प्रमाण आज तक प्राप्त नहीं है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अभाव में सांख्य–दर्शन के ज्ञान का मूल आधार ईश्वरकृष्ण द्वारा लिखित 'सांख्यकारिका' है।[36]

ऐसा कहा जाता है कि ईश्वरकृष्ण असुरि के शिष्य एवं पंचशिख के शिष्य थे। असुरि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे सांख्य दर्शन के जन्मदाता कपिल के शिष्य थे। 'सांख्यकारिका' सांख्य का प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सांख्य दर्शन की व्याख्या 72 छोटी–छोटी 'कारिकाओं' में की गयी है, जो छन्द में है। इस दर्शन की व्याख्या साधारणतः 'सांख्यकारिका' को आधार मानकर की जाती है। 'सांख्यकारिका' पर गौडपाद ने टिका लिखी है।[37] 'सांख्यकारिका' पर वाचस्पति मिश्र ने भी टीका लिखीं है, जो 'सांख्य तत्त्व कौमुदी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'सांख्य प्रवचन सूत्र' के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि वह चौदहवीं शताब्दी में लिखा गया है। विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्य प्रवचन सूत्र' पर एक भाष्य लिखा है, जो 'सांख्य प्रवचन भाष्य' के नाम से विख्यात है, परन्तु इसकी ख्याति 'सांख्य तत्त्व कौमुदी' की अपेक्षा कम है।[38]

सांख्य का नामकरण 'सांख्य' क्यों हुआ–इस प्रश्न को लेकर मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों ने सांख्य शब्द का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि सांख्य शब्द 'सं' और 'ख्या' के संयोग से बना है। 'सं = सम्यक्' और 'ख्या = ज्ञान' होता है। इसलिए सांख्य का वास्तविक अर्थ हुआ 'सम्यग्ज्ञान'। 'सांख्य' शब्द के इस अर्थ को माननेवाले विद्वानों का मत है कि इस दर्शन में सम्यग्ज्ञान पर जोर दिया गया है, जिसके फलस्वरूप सांख्य को 'सांख्य' कहा जाता है। सम्यग्ज्ञान का अर्थ है पुरुष और प्रकृति के बीच भिन्नता का ज्ञान नहीं करने से ही बंधन होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य नाम 'संख्या' शब्द से प्राप्त हुआ

है। सांख्य दर्शन का सम्बन्ध 'संख्या से होने के कारण ही इसे सांख्य कहा जाता है।[39]

सांख्य दर्शन में तत्त्वों की संख्या पच्चीस बतलायी गयी है। 'भगवद्गीता' में इस दर्शन को तत्त्व–गणन या तत्त्व–संख्या कहा गया है। इन दो विचारों के अतिरिक्त एक तीसरा विचार है, जिसके अनुसार सांख्य को सांख्य कहे जाने का कारण सांख्य के प्रणेता का नाम 'संख' होना बतलाया जाता है; परन्तु यह विचार निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्य–दर्शन के प्रणेता 'संख' का कोई प्रमाण नहीं है। महर्षि कपिल को छोड़कर अन्य को सांख्य का प्रवर्तक कहना भ्रान्तिमूलक है।

सांख्य दर्शन में आत्मा का स्वरूप

सांख्य दर्शन दो तत्त्वों को अंगीकार करता है। प्रथम तत्त्व प्रकृति तथा द्वितीय पुरुष। पुरुष का अध्ययन करने के पूर्व प्रकृति और पुरुष की भिन्नता की ओर ध्यान देना वांछनीय होगा। पुरुष चेतन है, जबकि प्रकृति अचेतन है। पुरुष सत्त्व, रजस् और तमस से शून्य है जबकि प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् से अलंकृत है, इसलिए पुरुष को त्रिगुणतीत और प्रकृति को त्रिगुणमयी कहा गया है। पुरुष ज्ञाता है, जबकि प्रकृति ज्ञान का विषय है। पुरुष निष्क्रिय है, जबकि प्रकृति सक्रिय है। पुरुष अनेक हैं, जबकि प्रकृति एक है। पुरुष कार्य–कारण से मुक्त है, जबकि प्रकृति कारण है। पुरुष अपरिवर्तन शील है, जबकि प्रकृति परिवर्तनशील है। पुरुष विवेकी है, परन्तु प्रकृति अविवेकी है। पुरुष अपरिणामी–नित्य है, परन्तु प्रकृति परिणामी–नित्य है।[40]

जिस सत्ता को अधिकांशतः भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा कहा है, उसी सत्ता को सांख्य ने पुरुष की संज्ञा से विभूषित किया है। पुरुष और आत्मा इस प्रकार एक ही तत्त्व के विभिन्न नाम हैं।

पुरुष की सत्ता स्वयं सिद्ध है। इस सत्ता का खण्डन करना असम्भव है। यदि पुरुष की सत्ता का खण्डन किया जाए तो उसकी सत्ता खण्डन के निषेध में ही निहित है, अतः पुरुष का अस्तित्व संशय रहित है।

सांख्य ने पुरुष को शुद्ध चैतन्य माना है। चैतन्य आत्मा में सर्वदा निवास करता है। आत्मा को जागृत अवस्था, स्वप्नावस्था या सुषुप्तावस्था में से किसी भी अवस्था में माना जाए, उसमें चैतन्य वर्तमान रहता है।

इसलिए चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं, बल्कि स्वभाव माना गया है। आत्मा प्रकाशरूप है। वह स्वयं तथा संसार के अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करती है।

आत्मा को शरीर से भिन्न माना गया है। शरीर भौतिक है, परन्तु आत्मा अभौतिक अर्थात् आध्यात्मिक है। आत्मा बुद्धि और अहंकार से भिन्न है; क्योंकि आत्मा चेतन है, जबकि बुद्धि और अहंकार अचेतन है। आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है; क्योंकि इन्द्रियाँ अनुभव के साधन है, जबकि पुरुष अनुभव से परे है। पुरुष को सांख्य ने निष्क्रिय अर्थात् अकर्त्ता माना है। वह संसार के कार्यों में हाथ नहीं बँटाता है। आत्मा को इसलिए निष्क्रिय माना गया है कि उसमें इच्छा, संकल्प और द्वेष का अभाव है। इस स्थल पर सांख्य का पुरुष जैन दर्शन के 'जीव' से भिन्न हैं। जैन दर्शन में जीवों को कर्त्ता माना गया है, जीव संसार के कार्यों में संलग्न रहता है, परन्तु सांख्य का पुरुष दृष्टा है।

पुरुष ज्ञाता है, वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। आत्मा निस्त्रैगुण्य है; क्योंकि उसमें सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का अभाव है। इसके विपरीत प्रकृति को त्रिगुणमयी माना जाता है; क्योंकि सत्त्व, रजस् और तमस् इसके आधार स्वरूप हैं। आत्मा शाश्वत है, यह अनादि और अनन्त है। शरीर का जन्म होता है और मृत्यु भी; परन्तु आत्मा अविनाशी है, वह निरन्तर विद्यमान रहती है।

आत्मा कार्य कारण की शृंखला से मुक्त है। पुरुष को न किसी वस्तु का कारण कहा जा सकता है और न कार्य। कारण और कार्य शब्द का प्रयोग यदि पुरुष पर किया जाये तो वह प्रयोग अनुचित होगा।[41]

पुरुष अपरिवर्तनशील है, इसके विपरीत प्रकृति परिवर्तनशील है, पुरुष काल और दिक् की सीमा से बाहर है। वह काल और दिक् में नहीं, क्योंकि वह नित्य है।

पुरुष पुण्य–पाप से रहित है पाप और पुण्य उसके गुण नहीं है, क्योंकि वह निर्गुण है। सांख्य का आत्म–सम्बन्धी विचार अन्य दार्शनिकों से भिन्न है, न्याय–वैशेषिक ने आत्मा को स्वतः अचेतन कहा है। आत्मा में चेतना का संचार तब ही होता है, जब आत्मा का सम्पर्क मन, शरीर और इन्द्रियों से होता है। चैतन्य आत्मा का आगन्तुक लक्षण है, परन्तु सांख्य चैतन्य को आत्मा का स्वरूप मानता है। चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर

स्वभाव है। इसके अतिरिक्त न्याय–वैशेषिक आत्मा को इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्न आदि का आधार बुद्धि को मानता है।

सांख्य शंकर के आत्मा–सम्बन्धी विचार से सहमत नहीं है, शंकर ने आत्मा को चैतन्य के साथ ही साथ आनन्दमय माना है। आत्मा सत्+चित्+आनन्द–सच्चिदानंद है।

सांख्य आत्मा को आनन्दमय नहीं मानता है। आनन्द और चैतन्य विरोधात्मक गुण हैं। एक ही वस्तु में आनन्द और चैतन्य का निवास मानना भ्रान्तिमूलक है। इसके अतिरिक्त आनन्द सत्त्व का फल है, आत्मा सत्त्वगुण से शून्य है, क्योंकि वह त्रिगुणातीत है। इसलिए आनन्द आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता है, फिर यदि आत्मा को आनन्द से युक्त माना जाए तो आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता है। फिर यदि आत्मा को आनन्द से युक्त माना जाए तो आत्मा में चैतन्य और आनन्द के द्वैत का निर्माण होगा। इस द्वैत से मुक्त करने के लिए सांख्य ने आत्मा को आनन्दमय नहीं माना है।

सांख्य और शंकर के आत्मा–सम्बन्धी विचार में दूसरा अन्तर यह है कि शंकर ने आत्मा को एक माना है, जबकि सांख्य ने आत्मा को अनेक माना है। शंकर के अनुसार आत्मा की अनेकता अज्ञान के कारण उपस्थित होती है। जिसके फलस्वरूप वह अयथार्थ है, परन्तु सांख्य अनेकता को सत्य मानता है।

सांख्य का पुरुष–विचार बुद्ध के आत्मा–विचार से भिन्न है। बुद्ध ने आत्मा को विज्ञान का प्रवाह माना है, परन्तु सांख्य ने इसके विपरीत परिवर्तनशील आत्मा को मानकर आत्मा की नित्यता पर जोर दिया है।

सांख्य के 'आत्मा' और चार्वाक के 'आत्मा' में मूल भेद यह है कि सांख्य आत्मा को अभौतिक मानता है, जबकि चार्वाक आत्मा को शरीर से अभिन्न अर्थात् भौतिक मानता है।

सांख्य के बन्धन और मोक्ष सम्बन्धी विचार

सांख्य संसार को दुखमय मानता है। जरा, मृत्यु, रोग, जन्म आदि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विश्व दुःखों से परिपूर्ण हैं, क्योंकि समस्त विश्व गुणों के अधीन है। जहाँ गुण हैं, वहाँ दुख है। संसार को दुःखात्मक मानकर सांख्य भारतीय विचारधारा की परम्परा का पालन करता

है, क्योंकि प्रायः भारत के सभी दर्शनों में संसार की दुखमयता पर जोर दिया गया है।

सांख्य के अनुसार विश्व में तीन प्रकार के दुख पाये जाते हैं। तीन प्रकार के दुख ये हैं –

आध्यात्मिक दुःख–आध्यात्मिक दुःख उस दुःख को कहा जाता है, जो मनुष्य के निजी शरीर और मन से उत्पन्न होते हैं। मानसिक और शारीरिक व्याधियाँ ही आध्यात्मिक दुःख हैं। इस प्रकार के दुःख का उदाहरण भूख, सरदर्द, क्रोध, भय, द्वेष आदि हैं।

आधिभौतिक दुःख–आधिभौतिक दुःख वह है, जो बाह्य पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होता है। यह काँटे का गड़ना, तीर का चुभना और पशुओं, पक्षियों आदि से प्राप्त होता है।

आधिदैविक दुःख–इस प्रकार का दुःख बाह्य और अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है। नक्षत्र, भूत–प्रेतादि से प्राप्त दुःख आधिदैविक दुःख कहा जाता है। सर्दी, गर्मी आदि से मिलने वाले दुःख भी आधिदैविक दुःख हैं।

मानव स्वभावतः इन तीन प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना चाहता है। चिकित्सा विज्ञान इन दुःखों से अस्थायी छुटकारा दिला सकता है; परन्तु मानव इन दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाना चाहता है। वह केवल वर्तमान दुःख से ही नहीं बचना चाहता है, अपितु भविष्य में मिलने वाले दुःखों से भी छुटकारा पाना चाहता है। चिकित्सा विज्ञान उसकी इस इच्छा की तृप्ति करने में असमर्थ है। दुःखों का पूर्ण विनाश मोक्ष से ही सम्भव है।

मोक्ष का अर्थ त्रिविध दुःख का अभाव है। मोक्ष ही परम अपवर्ग या पुरुषार्थ है। यहाँ पर यह कह देना अनावश्यक न होगा कि धर्म और काम को परम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता; क्योंकि वे नाशवान हैं, इसके विपरीत मोक्ष नित्य है, अतः मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानना प्रमाण संगत है।

सांख्य के मतानुसार पुरुष नित्य, अविनाशी और गुणों से शून्य है। जब पुरुष मुक्त है तो वह बंधनग्रस्त कैसे हो सकता है। सच पूछा जाए तो पुरुष बन्धन में नहीं पड़ता हैं, बल्कि उसे बन्धन का भ्रम हो जाता है। वह कारण–कार्य शृंखला से रहित है, वह देश और काल की सीमा से परे है। वह अकर्त्ता है, क्योंकि वह प्रकृति और उसके व्यापारों का दृष्टा मात्र है।

चैतन्य उसका स्वभाव है, क्योंकि चैतन्य के अभाव में पुरुष की कल्पना करना असम्भव है। इन सब लक्षणों के अतिरिक्त पुरुष का एक मुख्य लक्षण है और वह है, उसका मुक्त होना। पुरुष और प्रकृति के आकस्मिक सम्बन्ध से बन्धन का प्रादुर्भाव होता है।

पुरुष बुद्धि, अहंकार और मन से भिन्न है, परन्तु अज्ञान के कारण वह अपने को उन वस्तुओं से पृथक् नहीं समझ पाता है। इसके विपरीत वह बुद्धि या मन से अपने को अभिन्न समझने लगता है। सुख और दुख बुद्धि या मन में समाविष्ट होता है। पुरुष अपने को बुद्धि या मन से अभिन्न समझकर दुखों का अनुभव करता है। इसकी व्याख्या एक उपमा से की जा सकती है। जिस प्रकार सफेद स्फटिक लाल फूल की निकटता से लाल दिखाई देता है, उसीप्रकार नित्य और मुक्तपुरुष बुद्धि की, दुःख की छाया ग्रहण करने से बन्धनग्रस्त प्रतीत होता है। बुद्धि के सुख–दुःख को आत्मा निजी सुख–दुःख समझने लगती है। इसी स्थिति में पुरुष अपने को शरीर, बुद्धि, अहंकार, मन तथा इन्द्रियों से युक्त समझने लगता है तथा सुख–दुःख की अनुभूति स्वयं करने लगता है।

साधारणतः यह पाया जाता है कि एक पिता पुत्र की सफलता को अपनी सफलता तथा उसके अपमान को अपना अपमान समझता है। इस प्रकार पिता–पुत्र के सुख–दुःख के अनुकूल अपने को सुखी और दुःखी समझने लगता है। इस प्रकार आत्मा का अपने को बुद्धि से जो अनात्मा है, अभिन्न समझना बन्धन है।

आत्मा और प्रकृति अथवा अनात्मा के भेद का ज्ञान न रहना ही बन्धन है। इसका कारण अज्ञान अर्थात् अविवेक है। अज्ञान का अन्त ज्ञान से ही सम्भव है, अविवेक का निराकरण विवेक के द्वारा ही सम्भव है। जिस प्रकार अन्धकार का अन्त प्रकाश से होता है; उसी प्रकार अविवेक का अन्त विवेक से होता है, इसलिए सांख्य ने ज्ञान को मोक्ष का साधन माना है। ज्ञान के द्वारा ही आत्मा और अनात्मा का भेद विदित हो जाता है। सांख्य की तरह बुद्ध ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए ज्ञान को अत्यन्त आवश्यक माना है, परन्तु दोनों दर्शनों में ज्ञान की व्याख्या को लेकर भेद है। बुद्ध के ज्ञान का अर्थ चार आर्य सत्यों का ज्ञान है, परन्तु सांख्य में ज्ञान का अर्थ आत्मा और अनात्मा के भेद का ज्ञान है।

मोक्ष की प्राप्ति, सांख्य के अनुसार कर्म से सम्भव नहीं है। कर्म दुखात्मक होता है, अतः यदि मोक्ष को कर्म के द्वारा प्राप्त किया जाए तो मोक्ष भी दुखात्मक होगा। कर्म अनित्य है। यदि मोक्ष को कर्म से अपनाया जाये तो मोक्ष भी दुखात्मक होगा। कर्म यथार्थ स्वप्न की तरह होता है, इसलिए कर्म से मोक्ष को अपनाने का भाव भ्रान्ति–मूलक है। इसके विपरीत ज्ञान जागृत अनुभव की तरह यथार्थ होता है, इसलिए सम्यग्ज्ञान से जैसा ऊपर कहा गया है, मोक्ष प्राप्ति होती है। पुरुष और प्रकृति के भेद के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है; परन्तु इस ज्ञान को केवल मन से समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि इस ज्ञान की साक्षात् अनुभूति भी परमावश्यक है। इस ज्ञान से आत्मा को साक्षात् अनुभूति होनी चाहिए कि वह शरीर, इन्द्रियों, बुद्धि और मन से भिन्न है। जब आत्मा को यह अनुभूति होती है कि मैं अनात्मा नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है तो आत्मा मुक्त हो जाती है।

जिस प्रकार रस्सी में साँप का जो भ्रम होता है। वह तभी दूर हो सकता है, जब रस्सी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाए, उसी प्रकार आत्मा का यह भ्रम कि मैं शरीर, इन्द्रियाँ और बुद्धि से मुक्त हूँ, तभी दूर हो सकता है, जब आत्मा को इसकी विभिन्नता की साक्षात् अनुभूति हो जाए। इस अनुभूति को पाने के लिए आत्मा को मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। सांख्य के कुछ अनुयायियों ने इसको पाने के लिए अष्टांग मार्ग का पालन करने का आदेश योगदर्शन में दिया है। ये मार्ग इसप्रकार हैं–(1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) ध्यान (8) समाधि।

इसके फलस्वरूप आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा के नये गुण का प्रादुर्भाव नहीं होता है। आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेना ही मोक्ष है।

मोक्ष की अवस्था में आत्मा का शुद्ध चैतन्य निखर आता है। आत्मा उन सभी प्रकार के भ्रमों से जो उसे बन्धन ग्रस्त करते हैं, मुक्त हो जाती है। इस प्रकार अपूर्णता से पूर्णता की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा जा सकता है। मोक्ष प्राप्ति के साथ ही साथ प्रकृति के सारे विकास रुक जाते हैं। प्रकृति को सांख्य ने एक नर्तकी के रूप में देखा है। जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों के मनोरंजन के बाद नृत्य से विरक्त हो जाती है; उसी प्रकार प्रकृति अपने विभिन्न रूपों को पुरुष के सामने रखकर तथा पुरुष को मुक्त कराकर

स्वतन्त्र सृष्टि के कार्य से अलग हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में विविध दुख का नाश हो जाता है। सभी प्रकार के दुखों का विनाश ही मोक्ष है। मोक्ष, अज्ञान, इच्छा, धर्म और अधर्म–दुखों के कारण का विनाश कर देता है। इसके फलस्वरूप दुखों का आप से आप अन्त हो जाता है। सांख्य के अनुसार मोक्ष सुखरूप नहीं है।

यहाँ पर सांख्य का मोक्ष सम्बन्धी विचार शंकर के मोक्ष–सम्बन्धी विचार से भिन्न हैं। शंकर ने मोक्ष को आनन्दमय माना है, परन्तु सांख्य मोक्ष को आनन्दमय या सुखरूप नहीं मानता है। सुख–दुख सापेक्ष और अवियोज्य है। जहाँ सुख होगा, वहाँ दुख भी अवश्य होगा। मोक्ष को सुख और दुख से परे माना जाता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष को आनन्दमय नहीं मानने का दूसरा कारण यह है कि सुख अथवा आनन्द उन्हीं वस्तुओं में होता है, जो सत्त्व गुण के अधीन हैं; क्योंकि आनन्द सत्त्व गुण का कार्य है।

मोक्ष की अवस्था त्रिगुणातीत है। अतः मोक्ष को आनन्दमय मानना प्रमाण संगत नहीं है।

सांख्य दो प्रकार की मुक्ति को मानता है– (1) जीवन मुक्ति (2) विदेह मुक्ति।

जीव को ज्यों ही तत्त्वज्ञान का अनुभव होता है, त्यों ही वह मुक्त हो जाता है। यद्यपि वह मुक्त हो जाता है, फिर भी पूर्व जन्मों के प्रभाव के कारण उसका शरीर विद्यमान रहता है, शरीर का रहना मुक्ति प्राप्ति में बाधा नहीं डालता है। पूर्व जन्मों के कर्मों का फल जब तक शेष नहीं हो जाता है, शरीर जीवित रहता है। इसकी व्याख्या एक उपमा से की जाती है। जिस प्रकार कुम्हार के डण्डे को हटा लेने के बावजूद पूर्व वेग के कारण कुम्हार का चक्का कुछ समय तक घूमता रहता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म के उन कर्मों के कारण जिनका फल समाप्त नहीं हुआ है, शरीर मुक्ति के बाद भी कुछ समय तक कायम रहता है। इस प्रकार की मुक्ति को जीवन मुक्ति कहा जाता है।

जीवन मुक्ति का अर्थ है–जीवनकाल में मोक्ष की प्राप्ति। इस मुक्ति को सन्देह मुक्ति भी कहा जाता है; क्योंकि इस मुक्ति में देह विद्यमान रहता है। जीवन मुक्त व्यक्ति के शरीर के रहने पर भी शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं अनुभव करता। वह कर्म करता है, परन्तु उसके द्वारा किये गये कर्म से फल का संचय नहीं होता है, क्योंकि कर्म की शक्ति समाप्त हो जाती है, अन्तिम

मुक्ति जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है, विदेह मुक्ति कही जाती है। इस मुक्ति की प्राप्ति तब होती है, जब पूर्व जन्म के शेष कर्मों के फल का अन्त हो जाता है। इस मुक्ति में शरीर का अभाव होता है।

सांख्य दो प्रकार के शरीर को मानता है—स्थूल और सूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर का निर्माण पाँच महाभूतों से होता है और सूक्ष्म शरीर का निर्माण सूक्ष्म—तन्मात्राओं, पाँचों इन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और बुद्धि, अहंकार तथा मन से होता है। मृत्यु के साथ स्थूल शरीर का अन्त हो जाता है; परन्तु सूक्ष्म शरीर कायम रहता है। सूक्ष्म शरीर ही मृत्यु के उपरान्त सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करता है और इस प्रकार जन्म—जन्मान्तर तक सूक्ष्म शरीर की सत्ता कायम रहती है। विदेह मुक्ति के फलस्वरूप सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शरीरों का नाश हो जाता है और इस प्रकार पुनर्जन्म का क्रम समाप्त हो जाता है। विदेह मुक्ति की अवस्था में बाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं रहता है। इसका कारण यह है कि बुद्धि का जिसके द्वारा बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है, नाश इस अवस्था में हो जाता है।

विज्ञान-भिक्षु सिर्फ विदेह मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान रहती है, तब तक उसे शारीरिक और मानसिक विकारों का सामना करना पड़ता है, सांख्य के अनुसार बन्धन और मोक्ष दोनों व्यावहारिक हैं। पुंरुष स्वभावतः मुक्त है। वह न बन्धन में पड़ता है और न मुक्त होता है। आत्मा को यह प्रतीत होता है कि बन्धन और मोक्ष होता है, परन्तु यह प्रतीति वास्तविकता का रूप नहीं ले सकती है। अतः पुरुष बन्धन और मोक्ष से परे है।

विज्ञान भिक्षु का कहना है कि यदि पुरुष वास्तव में बन्धन ग्रस्त होता तो उसे सौ जन्मों के बाद भी मोक्ष की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वास्तव में बन्धन का नाश सम्भव नहीं है। सच पूछा जाए तो बन्धन और मोक्ष प्रकृति की अनुभूतियाँ हैं। प्रकृति ही बन्धन में पड़ती है और मुक्त होती है। सांख्यकारिका के लेखक ईश्वर कृष्ण ने कहा है कि पुरुष न बन्धन में पड़ता है न मुक्त होता है और न उसका पुनर्जन्म ही होता है। बन्धन, मोक्ष और पुनर्जन्म भिन्न—भिन्न रूपों में प्रकृति का होता है। प्रकृति स्वतः अपने को सात रूपों में बाँधती है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार पुरुष का बन्धन में पड़ना और मोक्ष के लिए प्रयत्नशील उसके भ्रम का प्रतीक है।

अतः पुरुष का न बन्धन होता है और न मोक्ष होता है, बल्कि उसे बन्धन और मोक्ष का भ्रम हो जाता है।

सांख्य की ईश्वर विषयक समस्या

ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न को लेकर सांख्य के टीकाकारों एवं समर्थकों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य दर्शन अनीश्वरवाद का समर्थन करता है। इसके विपरीत कुछ अनुयायियों का मत है कि सांख्य दर्शन में ईश्वरवाद की मीमांसा की गई है। इस मत के माननेवाले विद्वानों का मत है कि सांख्य न्याय की तरह ईश्वरवाद का समर्थन करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर के प्रश्न को लेकर सांख्य के अनुयायियों के दो दल हो जाते हैं। अब हम एक–एक कर दोनों दलों के विद्वानों के मत का अध्ययन करेंगे।

जिन विद्वानों में सांख्य में अनीश्वरवाद की झलक पायी जाती है। उनमें वाचस्पति मिश्र और अनिरुद्ध मुख्य हैं। इन लोगों का यह मत है कि सांख्य में ईश्वरवाद का खण्डन हुआ है। ईश्वरवाद का खण्डन सांख्य में इस प्रकार हुआ है –

ईश्वर को प्रमाणित करने के लिए ईश्वरवादियों का कथन है कि संसार कार्य शृंखला है। अतः उसके कारण के रूप में ईश्वर को मानना अपेक्षित है। सांख्य, जहाँ तक विश्व को कार्य शृंखला मानने का प्रश्न है, सहमत है; परन्तु वह ईश्वर के इस कार्य शृंखला का कारण मानने में विरोध करता है। विश्व का कारण वही हो सकता है, जो परिवर्तनशील एवं अनित्य हो। ईश्वर को नित्य तथा अपरिवर्तनशील माना जाता है तो ईश्वर का रूपान्तर विश्व के रूप में कैसे हो सकता है? परन्तु ईश्वर को विश्व के रूप में परिवर्तित होना आवश्यक है। अतः ईश्वर को विश्व का कारण मानना भ्रान्तिमूलक है। प्रकृति नित्य तथा परिणामी दोनों हैं। इसलिए समस्त विश्व प्रकृति का रूपान्तरित रूप कहा जा सकता है। महत् से लेकर पाँच स्थूलभूतों तक सब चीजें प्रकृति से निर्मित होती हैं। अतः विश्व का कारण प्रकृति को मानना प्रमाण–संगत है।

यहाँ पर आक्षेप किया जा सकता है कि प्रकृति जड़ है। अतः उसकी गति के संचालक और नियामक के रूप में चेतन सत्ता को मानना आवश्यक है। क्या वह चेतन सत्ता जीव है? उस चेतन सत्ता को जीव नहीं

माना जा सकता है; क्योंकि जीव का ज्ञान सीमित है। इसलिए अनन्त बुद्धि से युक्त ईश्वर को प्रकृति का संचालक और नियामक मानना समीचीन प्रतीत होता है; परन्तु इस युक्ति के विरोध में आवाज उठायी जा सकती है।

ईश्वरवादियों ने ईश्वर को अकर्त्ता माना है। यदि यह ठीक है तो अकर्ता ईश्वर प्रकृति की क्रिया का संचालन कैसे कर सकता है? यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाए कि ईश्वर प्रकृति संचालन के द्वारा सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है, तो इससे समस्या नहीं सुलझ पाती, बल्कि इसके विपरीत अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। सृष्टि के संचालन में ईश्वर का क्या लक्ष्य हो सकता है? बुद्धिमान पुरुष जब भी कोई कार्य करता है तो वह स्वार्थ अथवा कारुण्य से प्रेरित होता है। ईश्वर पूर्ण है, उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं है। अतः विश्व का निर्माण वह स्वार्थ की भावना से नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त दूसरे की पीड़ा से प्रभावित होकर भी वह सृष्टि नहीं कर सकता; क्योंकि सृष्टि के पूर्व शरीर, इन्द्रियों और वस्तुओं का जो दुख के कारण हैं, अभाव रहता है।

अतः सृष्टि का कारण कारुण्य को ठहराना भूल है। फिर यदि ईश्वर करुणा के वशीभूत होकर सृष्टि करता तो संसार के समस्त जीवों को सुखी बनाता, परन्तु विश्व इसके विपरीत दुखों से परिपूर्ण है। विश्व का दुखमय होना यह प्रमाणित करता है कि विश्व इसके विपरीत दुखों से परिपूर्ण है। विश्व का दुखमय होना यह प्रमाणित करता है कि विश्व करुणामय ईश्वर की सृष्टि नहीं है। इसलिए जगत की रचना के लिए ईश्वर को मानना काल्पनिक है।[42]

सांख्य जीव की अमरता और स्थिरता में विश्वास करता है। यदि ईश्वर में विश्वास किया जाए तो जीव की स्वतन्त्रता तथा अमरता खण्डित हो जाती है। यदि जीव को ईश्वर का अंश माना जाए तो जीवों में ईश्वरीय गुण का समावेश होना चाहिए, परन्तु यह सत्य नहीं है। ईश्वर को सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान माना जाता है, परन्तु जीव का ज्ञान सीमित तथा उसकी शक्ति असीम है। इसलिए जीव को ईश्वर का अंश मानना भ्रामक है। यदि ईश्वर को जीव का सृष्टा माना जाए तो जीव नश्वर होंगे। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता मानने से जीव के स्वरूप का खण्डन हो जाता है। अतः ईश्वर का अस्तित्व अनावश्यक है।[43]

न्याय ईश्वर को वेद–सृष्टा मानता है, परन्तु सांख्य इस कथन का विरोध करते हुए कहता है कि वेद अपौरुषेय हैं। जब वेद अपौरुषेय हैं तो वेद का सृष्टा ईश्वर को ठहराना भ्रामक है, क्योंकि ईश्वर व्यक्तिपूर्ण है। सच पूछा जाए तो वेद के रचयिता ऋषि हैं, जिन्होंने वेद में शाश्वत सत्यों के भण्डार निहित कर दिये हैं। ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान और वैदिक शब्द से असम्भव है। वेद के इस प्रकार के वेद–वाक्य मुक्त आत्माओं की प्रशंसा में कहे गये हैं। अतः वेद के रचयिता के रूप में ईश्वर को सिद्ध करना समीचीन नहीं है।

सांख्य को अनीश्वरवादी प्रमाणित करने में ये युक्तियाँ बल प्रदान करती हैं। इन्हीं युक्तियों के आधार पर सांख्य अनीश्वरवादी कहा जाता है। विद्वानों का एक दूसरा दल है, जो सांख्य को ईश्वरवादी प्रमाणित करने का प्रयास करता है। इस दल के समर्थकों में विज्ञानभिक्षु का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके मत से सांख्य अनीश्वरवादी नहीं है। सांख्य ने केवल इतना ही कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए कोई प्रमाण नहीं है। सांख्य सूत्र में यह कहा गया है 'ईश्वरासिद्धेः' अर्थात् ईश्वर असिद्ध है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य अनीश्वरवादी है, अमान्य प्रतीत होता है। यदि सांख्य सूत्र में यह कहा जाता–'ईश्वराभावात्' अर्थात् ईश्वर का अभाव है तो सांख्य को अनीश्वरवादी कहना युक्तियुक्त होता। यह कहना कि 'ईश्वर का प्रमाण नहीं है' और यह कहना कि 'ईश्वर का अस्तित्व नहीं है' दोनों दो बातें हैं। ऐसे दार्शनिकों ने सांख्य में ईश्वर का निषेध किया है, जो उस दर्शन में ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते।

विज्ञानभिक्षु का कहना है कि यद्यपि प्रकृति से समस्त वस्तुएँ विकसित होती हैं, तथापि अचेतन प्रकृति को गतिशील और परिवर्तित करने के लिए ईश्वर के सान्निध्य की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार चुम्बक के सान्निध्य मात्र से लोहे में गति आ जाती है, उसी प्रकार ईश्वर के सान्निध्य मात्र से प्रकृति क्रियाशील होती है और महत् में परिणत होती है। विज्ञानभिक्षु का कथन है कि युक्ति तथा शास्त्र दोनों से ही ऐसे ईश्वर का प्रमाण मिलता है।

प्रो. हिरियन्ना ने सांख्य को ईश्वरवादी सिद्ध करने के प्रयास की निन्दा की है; क्योंकि ईश्वरवाद सांख्यदर्शन के स्वरूप के विपरीत है।

उन्होंने कहा है–कुछ प्राचीन एवं नवीन विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कपिल को ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है, लेकिन यह दर्शन युगीन सांख्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतीत होता है।'[44]

यद्यपि सांख्य के ईश्वर विषयक विचार विवादग्रस्त हैं, फिर भी अधिकांशतः विद्वानों ने सांख्य को अनीश्वरवादी कहा है। सांख्य–दर्शन की ईश्वरवादी व्याख्या को अधिक मान्यता नहीं मिली है। कुछ विद्वानों का मत है कि मूल सांख्य ईश्वरवादी था; परन्तु जड़वाद, जैन और बौद्ध दर्शनों के प्रभाव में आकर वह अनीश्वरवादी हो गया। कारण जो कुछ भी हो, सांख्य को अनीश्वरवादी कहना ही अधिक प्रमाण संगत प्रतीत होता है।

डॉ. दासगुप्त ने सांख्य को निरीश्वरवादी चित्रित किया है। उन्होंने कहा है –'सांख्य और योग के मध्य मूल अन्तर यह है कि सांख्य ईश्वरवाद का निषेध करता है, जबकि योग ईश्वरवाद की प्रस्थापना करता है। यही कारण है कि सांख्य को निरीश्वर सांख्य और योग को सेश्वर सांख्य कहकर विवेचित किया जाता है।'[45]

इस प्रकार सांख्य दर्शन के दो तत्त्व हैं, पुरुष और प्रकृति। इन दो तत्त्वों को मानने के कारण सांख्य को द्वैतवादी दर्शन कहा जाता है। दोनों तत्त्वों को द्वैतवाद में एक–दूसरे से स्वतन्त्र माना जाता है; परन्तु जब हम सांख्य के द्वैतवाद का सिंहावलोकन करते हैं, तब द्वैतवाद त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। सांख्य के द्वैतवाद के विरुद्ध अनेक आक्षेप प्रस्तावित किये जा सकते हैं।

सांख्य ने पुरुष को आत्मा और प्रकृति को अनात्म कहा है। पुरुष दृष्टा और प्रकृति दृश्य है। पुरुष ज्ञाता है और प्रकृति ज्ञेय है। इस प्रकार तत्त्वों को एक–दूसरे से स्वतन्त्र माना जाता है, परन्तु यदि पुरुष को आत्मा और प्रकृति को अनात्म माना जाए तो दोनों को एक–दूसरे की अपेक्षा होगी। यदि अनात्म को नहीं माना जाए, तो आत्मा ज्ञान किसका प्राप्त करेगी? यदि ज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा को नहीं माना जाए, तो अनात्म ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। इस प्रकार आत्मा अनात्म का संकेत करता है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष और प्रकृति एक ही परम तत्त्व के दो रूप हैं।

यद्यपि सांख्य पुरुष और प्रकृति के बीच द्वैत मानता है, फिर भी समस्त सांख्य–दर्शन प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की प्रधानता पर जोर देता है।

प्रकृति पुरुष के भोग तथा मोक्ष के लिए समस्त वस्तुओं का निर्माण करती है। जब तक सभी पुरुषों को मोक्ष नहीं मिल जाता है, तब तक विकास की क्रिया स्थगित नहीं हो सकती है; सचमुच प्रकृति पुरुष के उद्देश्य को प्रमाणित करती है। प्रकृति साधन और पुरुष साध्य है। इस प्रकार जब प्रकृति पुरुष के अधीनस्थ और पुरुष–आंश्रित है, तब पुरुष और प्रकृति को स्वतन्त्र तत्त्व मानना भ्रामक है। सांख्य प्रकृति की अपेक्षा पुरुष को अधिक महत्ता देकर विज्ञानवाद की ओर अग्रसर प्रतीत होता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सांख्य अनीश्वरवादी दर्शन है, फिर भी सांख्यों ने पुरुष अर्थात् आत्मा के कल्याण से सम्बन्धित चर्चा अपने दर्शन में भरपूर की है, अतः सांख्य अध्यात्मवादी दर्शन है।

(च) योगदर्शन में अध्यात्म

योगदर्शन भी अध्यात्म को बल देता है। भोगों द्वारा चित्त भूमियाँ, अष्टांग साधन अध्यात्म के ही प्रतिपाद हैं, जिसका विस्तृत विवरण इस प्रकार है–

योगदर्शन के प्रणेता पतंजलि माने जाते हैं। इन्हीं के नाम पर इस दर्शन को 'पातंजल दर्शन' भी कहा जाता है। योग के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए विवेक (ज्ञान) को ही पर्याप्त नहीं माना गया है, बल्कि योगाभ्यास पर भी बल दिया गया है। योगाभ्यास पर जोर देना इस दर्शन की निजी विशिष्टता है। इस प्रकार योगदर्शन में व्यावहारिक पक्ष अत्यधिक प्रधान है।

योगदर्शन सांख्य की तरह द्वैतवादी है। सांख्य के तत्त्वशास्त्र को वह पूर्णतः मानता है। उसमें यह सिर्फ ईश्वर को जोड़ देता है, इसलिए योग को 'सेश्वर सांख्य' तथा सांख्य को 'निरीश्वर सांख्य' कहा जाता है।[46]

योगदर्शन के ज्ञान का आधार पतंजलि द्वारा लिखित 'योगसूत्र' को ही कहा जा सकता है। योगसूत्र में योग के स्वरूप, लक्षण और उद्देश्य की पूर्ण चर्चा की गयी है।[47] योगसूत्र पर व्यास ने एक भाष्य लिखा है, जिसे 'योग भाष्य' कहा जाता है।[48] यह भाष्य योगदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। वाचस्पति मिश्र ने भी योगसूत्र पर टीका लिखी है, जो 'तत्त्व वैशारदी' कही जाती है।[49]

सांख्य और योगदर्शन में अत्यन्त ही निकटता का सम्बन्ध है,

जिसके कारण दोनों दर्शनों को समान तन्त्र कहा जाता है। दोनों दर्शनों के अनुसार जीवन का मूल उद्देश्य मोक्षानुभूति प्राप्त करना है। सांख्य की तरह योग भी संसार को तीन प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण मानता है। वे तीन प्रकार के दुःख हैं –

(1) आध्यात्मिक दुःख (2) आधिभौतिक दुःख और (3) आधिदैविक दुःख।

मोक्ष का अर्थ इन तीन प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना है। बन्धन का कारण अविवेक है, इसलिए मोक्ष को अपनाने के लिए तत्त्वज्ञान को आवश्यक माना गया है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानकर ही मानव मुक्त हो सकता है। सांख्य के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति विवेक ज्ञान से ही सम्भव है, परन्तु योगदर्शन विवेक–ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास को आवश्यक मानता है। इस प्रकार योग–दर्शन में सैद्धान्तिक ज्ञान के अतिरिक्त व्यावहारिक पक्ष पर भी जोर दिया गया है।

सांख्य और योगदर्शन को समान तन्त्र कहे जाने का कारण यह है कि योग और सांख्य दोनों के तत्त्व–शास्त्र एक हैं, योगदर्शन सांख्य के तत्त्व–विचार को अपनाता है। सांख्य के अनुसार तत्त्वों की संख्या पच्चीस है। सांख्य के पच्चीस तत्त्वों दस बाह्य इन्द्रियाँ, तीन आन्तरिक इन्द्रियाँ, पंच तन्मात्रा, पंच महाभूत प्रकृति और पुरुष को योग भी मानता है। योग इन तत्त्वों में एक तत्त्व ईश्वर जोड़ देता है, जो योगदर्शन का छब्बीसवाँ तत्त्व है।

अतः योग के मतानुसार तत्त्वों की संख्या छब्बीस है। योग इन तत्त्वों की व्याख्या सांख्य से अलग होकर नहीं करता है, बल्कि सांख्य के तत्त्वविचार को ज्यों का त्यों सिर्फ ईश्वर को जोड़कर मान लेता है। इस प्रकार योग–दर्शन तत्त्व–विचार के मामले में सांख्य–दर्शन पर आधारित है।

योगदर्शन के प्रमाण–शास्त्र को भी ज्यों का त्यों मान लेता है। सांख्य के मतानुसार प्रमाण तीन हैं। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को ज्ञान का साधन मानता है।

सांख्य का विकासवादी सिद्धान्त योग को भी मान्य है, योग विश्व के निर्माण की व्याख्या प्रकृति से करता है। प्रकृति का ही रूपान्तर विश्व की विभिन्न वस्तुओं में होता है, अतः सांख्य प्रकृति–परिणामवाद को मानता है। समस्त विश्व अचेतन प्रकृति का वास्तविक रूपान्तर है।

जहाँ तक कार्य–कारण सिद्धान्त का सम्बन्ध है। योग–दर्शन सांख्य

पर आधारित है। सांख्य की तरह योग भी सत् कार्यवाद को अपनाता है, अतः सांख्य और योग को समान तन्त्र कहना संगत है।

योगदर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है, जबकि सांख्य एक सैद्धान्तिक दर्शन है। सांख्य के सैद्धान्तिक पक्ष का व्यावहारिक प्रयोग ही योगदर्शन कहलाता है, अतः योगदर्शन योगाभ्यास की पद्धति को बतलाकर सांख्य–दर्शन को सफल बनाता है।

सांख्य दर्शन में ईश्वर की चर्चा नहीं हुई है। सांख्य ईश्वर के सम्बन्ध में पूर्णतः मौन है। इसमें कुछ विद्वानों ने सांख्य को अनीश्वरवादी कहा है, परन्तु सांख्य का दर्शन इस विचार का पूर्णरूप से खण्डन नहीं करता है। सांख्य में कहा गया है 'ईश्वरासिद्धेः' ईश्वर असिद्ध है। सांख्य में 'ईश्वराभावात्' ईश्वर का अभाव है, नहीं कहा गया है। योगदर्शन में ईश्वर के स्वरूप की पूर्णरूप से चर्चा हुई है। ईश्वर को प्रस्थापित करने के लिए तर्कों का भी प्रयोग किया गया है। ईश्वर को योग–दर्शन में योग का विषय कहा गया है। चूँकि सांख्य और योग समान तन्त्र हैं, इसलिए योग की तरह सांख्य–दर्शन में भी ईश्वरवाद की चर्चा अवश्य हुई होगी।[50]

योगदर्शन में योग के स्वरूप, उद्देश्य और पद्धति की चर्चा हुई है। सांख्य की तरह योग भी मानता है कि बन्धन का कारण अविवेक है। पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का ज्ञान नहीं रहना ही बन्धन है। बन्धन का नाश विवेक ज्ञान से सम्भव है। विवेक ज्ञान का अर्थ पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान कहा जा सकता है। जब आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, जब आत्मा यह जान लेती है कि मैं मन, बुद्धि, अहंकार से भिन्न हूँ, तब वह मुक्त हो जाती है। योगदर्शन में इस आत्म–ज्ञान को अपनाने के लिए योगाभ्यास की व्याख्या हुई है।

योगदर्शन में योग का अर्थ है–'चित्तवृत्ति का निरोध' मन, अहंकार और बुद्धि को चित्त कहा जाता है। ये अत्यन्त ही चंचल हैं; अतः इनका निरोध परमावश्यक है।[51]

चित्त भूमियाँ

योगदर्शन चित्तभूमि अर्थात् मानसिक अवस्था के भिन्न–भिन्न रूपों में विश्वास करता है। व्यास ने चित्त की पाँच अवस्थाओं अर्थात् पाँच भूमियों का उल्लेख किया है। वे (1) क्षिप्त, (2) मूढ़, (3) विक्षिप्त, (4) एकाग्र, (5) निरुद्ध।

क्षिप्त चित्त की वह अवस्था है, जिसमें चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है। इस अवस्था में चित्त अत्यधिक चंचल एवं सक्रिय रहता है। उसका ध्यान किसी एक वस्तु पर केन्द्रित नहीं हो पाता, अपितु वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर दौड़ता है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में इन्द्रियों और मन पर संयम का अभाव रहता है।

मूढ़ चित्त की अवस्था है, जिसमें वह तमोगुण के प्रभाव में रहता है। इस अवस्था में इन्द्रियों और मन पर संयम का अभाव रहता है।

मूढ़ चित्त की वह अवस्था है, जिसमें वह तमोगुण के प्रभाव में रहता है। इस अवस्था में निद्रा, आलस्य, आदि की प्रबलता रहती है। चित्त में निष्क्रियता का उदय होता है। इस अवस्था में भी चित्त योगाभ्यास के उपयुक्त नहीं है।

विक्षिप्तावस्था चित्त की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था में चित्त का ध्यान कुछ समय के लिए वस्तु पर जाता है, परन्तु वह स्थिर नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में चित्त–स्थिरता का आंशिक–अभाव रहता है। इस अवस्था में चित्त–वृत्तियों का कुछ निरोध होता है, परन्तु फिर भी यह अवस्था योग में सहायक नहीं है। यह अवस्था क्षिप्त और मूढ़ की मध्य अवस्था है।

एकाग्रचित्त की वह अवस्था है, जो सत्त्व गुण के प्रभाव में रहता है, सत्त्व गुण की प्रबलता के कारण इस अवस्था में ज्ञान का प्रकाश रहता है। चित्त अपने विषय पर देर तक ध्यान लगाता रहता है। यद्यपि इस अवस्था में सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है, फिर भी यह अवस्था योग अवस्था में पूर्णतः सहायक होती है।

निरुद्धावस्था चित्त का पाँचवाँ रूप है। इसमें सभी विषयों से चित्त हटाकर एक विषय पर ध्यानमग्न किया जाता है। इस अवस्था में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। चित्त में स्थिरता का प्रादुर्भाव पूर्णरूप से होता है। अगल–बगल के विषय चित्त को आकर्षित करने में असफल रहते हैं।

एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं को योगाभ्यास के योग्य माना जाता

है। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त चित्त की साधारण अवस्थाएँ हैं, जबकि एकाग्र और निरुद्ध चित्त की असाधारण अवस्थाएँ हैं।

योग के अष्टांग साधन

योगदर्शन सांख्य–दर्शन की तरह बन्धन का मूल कारण अविवेक को मानता है। पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य का ज्ञान नहीं रहने के कारण ही आत्मा बन्धन–ग्रस्त हो जाती है। मोक्ष को अपनाने के लिए तत्त्वज्ञान पर अधिक बल दिया गया है। योग के मतानुसार तत्त्वज्ञान की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती है, जब तक मनुष्य का चित्त विकारों से परिपूर्ण हैं। अतः योगदर्शन में चित्त की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए चित्तवृत्तियों का निरोध करने की बात की है। गीता में योग का अर्थ आत्मा का परमात्मा से मिलन माना गया है, परन्तु योगदर्शन में योग का अर्थ है राजयोग। योग मार्ग की 8 सीढ़ियाँ हैं, इसे योग के अष्टांग साधन भी कहा जाता है। योग के अष्टांग मार्ग इस प्रकार हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

इन्हें 'योगांग' भी कहा जाता है। अब हम एक–एक कर योग के इन अंगों की व्याख्या करेंगे।

1. यम–यम योग का प्रथम अंग है। बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों के संयम की क्रिया को 'यम' कहा जाता है। यम 5 प्रकार के होते हैं –

(1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य, (5) अपरिग्रह।

अहिंसा का अर्थ है–किसी समय किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना। अहिंसा का अर्थ भी प्राणियों की हिंसा का परित्याग करना ही नहीं है, बल्कि इनके प्रति क्रूर व्यवहार का भी परित्याग करना है। योगदर्शन में हिंसा को सभी बुराइयों का आधार माना गया है। यही कारण है कि इसमें अहिंसा के पालन पर अत्यधिक जोर दिया गया है।

सत्य का अर्थ है–मिथ्यावचन का परित्याग। व्यक्ति को ऐसे वचनों का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें सभी प्राणियों का हित हो। जिस वचन से किसी भी प्राणी का अहित हो, उसका परित्याग परमावश्यक है। जैसा देखा, सुना और अनुमान किया; उसी प्रकार मन का नियन्त्रण करना चाहिए।

अस्तेय तीसरा यम है। दूसरे के धन का अपहरण करने की प्रवृत्ति

का त्याग ही 'अस्तेय' है। दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित रूप से अधिकार जमाना 'स्तेय' कहा जाता है। इस मनोवृत्ति का परित्याग ही अस्तेय का दूसरा नाम है।

ब्रह्मचर्य चौथा यम है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है–विषय–वासना की ओर झुकानेवाली प्रवृत्ति का परित्याग। ब्रह्मचर्य के द्वारा ऐसी इन्द्रियों के संयम का आदेश दिया जाता है, जो कामेच्छा से सम्बन्धित हैं।

अपरिग्रह पाँचवाँ यम है। लोभवश अनावश्यक वस्तु के ग्रहण–त्याग को ही अपरिग्रह कहा जाता है। उपर्युक्त पाँच यमों के पालन में वर्ण, व्यवसाय, देशकाल के कारण किसी प्रकार का अपवाद नहीं होना चाहिए। योग–दर्शन में मन को सबल बनाने के लिए ये 5 प्रकार के यम का पालन आवश्यक समझा गया है। इनके पालन से मानव बुरी प्रवृत्तियों को वश में करने में सफल होता है, जिसके फलस्वरूप वह योग–मार्ग में आगे बढ़ता है।

(2) नियम–'नियम' योग का दूसरा अंग है। नियम का अर्थ है – सदाचार को प्रश्रय देना। नियम भी पाँच माने गये हैं –

(क) शौच–शौच के अन्दर बाह्य और आन्तरिक शुद्धि समाविष्ट है। स्थान, पवित्र, भोजन, स्वच्छता के द्वारा बाह्य शुद्धि तथा मैत्री, करुणा, सहानुभूति, प्रसन्नता, कृतज्ञता के द्वारा आन्तरिक अर्थात् मानसिक शुद्धि को अपनाना चाहिए।

(ख) सन्तोष–उचित प्रयास से जो कुछ भी प्राप्त हो, उसी से सन्तुष्ट रहना सन्तोष कहा जाता है। शरीर–यात्रा के लिए जो नितान्त आवश्यक है, उससे भिन्न अलग चीज की इच्छा न करना सन्तोष है।

(ग) तपस–सर्दी–गर्मी सहने की शक्ति लगातार बैठे रहना और खड़ा रहना, शारीरिक कठिनाइयों को झेलना, 'तपस' कहलाता है।

(घ) स्वाध्याय–शास्त्रों का अध्ययन करना तथा ज्ञानी पुरुष के कथनों का अनुशीलन करना।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान–ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखना परमावश्यक है। योग–दर्शन में ईश्वर के ध्यान को योग का सर्वश्रेष्ठ विषय माना जाता है।

यम और नियम में अन्तर यह है कि यम निषेधात्मक सद्गुण है,

जबकि नियम भावात्मक सद्गुण है।

(3) आसन–आसन तीसरा योगांग है। आसन का अर्थ है–शरीर को विशेष मुद्रा में रखना। आसन की अवस्था में शरीर का हिलना और मन की चंचलता आदि का अभाव हो जाता है, तन–मन दोनों को स्थिर रखना पड़ता है। शरीर को कष्ट से बचाने के लिए आसन को अपनाने का निर्देश दिया गया है। ध्यान की अवस्था में यदि शरीर को कष्ट की अनुभूति विद्यमान रहे तो ध्यान में बाधा पहुँच सकती है। इसलिए आसन पर जोर दिया गया है। आसन विभिन्न प्रकार के होते हैं। आसन की शिक्षा साधक को एक योग्य गुरु के द्वारा ग्रहण करनी चाहिए। आसन के द्वारा शरीर स्वस्थ हो जाता है तथा साधक को अपने शरीर पर अधिकार हो जाता है। योगासन शरीर को सबल तथा नीरोग बनाने के लिए आवश्यक है।

(4) प्राणायाम–प्राणायाम योग का चौथा अंग है। श्वास–प्रक्रिया को नियन्त्रित करके, उसमें एक क्रम लाना प्राणायाम कहा जाता है। जब तक व्यक्ति की साँस चलती रहती है, तब तक उसका मन चंचल रहता है। श्वास–वायु के स्थगित होने से चित्त में स्थिरता का उदय होता है। प्राणायाम के तीन भेद हैं–(1) पूरक (2) कुम्भक और (3) रेचक।

पूरक–प्राणायाम का वह अंग है, जिसमें गहरी श्वास ली जाती है।

कुम्भक में श्वास को भीतर रोका जाता है।

रेचक में श्वास को बाहर निकाला जाता है। प्राणायाम का अभ्यास किसी गुरु के निर्देशानुसार ही किया जा सकता है। श्वास के व्यायाम से हृदय सबल हो जाता है।

(5) प्रत्याहार–यह योग का पाँचवाँ अंग है। प्रत्याहार का अर्थ है – इन्द्रियों के बाह्य विषयों से हटाना तथा उन्हें मन के वश में रखना। इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं।[52] योगाभ्यास के लिए ध्यान को एक ओर लगाना होता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से संसर्ग नहीं हो। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियाँ अपने विषयों के पीछे से न चलकर मन के अधीन हो जाती हैं। प्रत्याहार को अपनाना अत्यन्त कठिन है। अनवरत अभ्यास, दृढ़ संकल्प और इन्द्रिय–निग्रह के द्वारा ही प्रत्याहार को अपनाया जा सकता है।

(6) धारणा—धारणा का अर्थ है—चित्त को अभीष्ट विषय पर जमाना।' धारणा आन्तरिक अनुशासन की पहली सीढ़ी है। धारणा में चित्त किसी एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है।[53] इस योगांग में चित्त को अन्य वस्तुओं से हटाकर एक वस्तु का कोई अंश अथवा सूर्य, चन्द्रमा या किसी देवता की प्रतिमा में से कोई भी रह सकती है। इस अवस्था की प्राप्ति के बाद साधक ध्यान के योग्य हो जाता है।

(7) ध्यान—ध्यान सातवाँ योगांग है। ध्यान का अर्थ है अभीष्ट विषय का निरन्तर अनुशीलन।[54] ध्यान की वस्तु का ज्ञान अविच्छिन्न रूप से होता है, जिसके फलस्वरूप विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले विषयों के अंशों का ज्ञान होता है, फिर सम्पूर्ण विषय की रूपरेखा विदित होती है।

(8) समाधि—समाधि अन्तिम योगांग है। इस अवस्था में ध्येय वस्तु की ही चेतना रहती है। इस अवस्था में मन अपने ध्येय विषय में पूर्णतः लीन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसे अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। ध्यान की अवस्था में वस्तु की ध्यान—क्रिया और आत्मा की चेतना रहती है, परन्तु समाधि में यह चेतना लुप्त हो जाती है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने से 'चित्तवृत्ति का निरोध' हो जाता है।[55] समाधि को योगदर्शन में साधन के रूप में चित्रित किया गया है। समाधि की यह महत्ता इसलिए है कि उससे चित्तवृत्ति का निरोध होता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति का निरोध साध्य हुआ।

धारणा, ध्यान और समाधि का साक्षात् सम्बन्ध योग से है। पहले पाँच अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का योग से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। ये पाँच योगांग तो एक प्रकार से धारणा, ध्यान और समाधि के लिए तैयारी मात्र हैं। पहले पाँच योगांग के बहिरंग साधन और अन्तिम तीन को अन्तरंग साधन कहा जाता है। अष्टांग योग के पालन से चित्त का विकार नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान पाती है, क्योंकि तत्त्वज्ञान की वृद्धि होती है। आत्मा को प्रकृति, देह, मन, इन्द्रियों से भिन्न होने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

समाधि के भेद

योगदर्शन में समाधि दो प्रकार की मानी गयी है —

(1) सम्प्रज्ञात समाधि (2) असम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि उस समाधि को कहते हैं, जिसमें ध्येय विषय का स्पष्ट ज्ञान रहता हो। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि कहते हैं। इसका कारण यह है कि इस समाधि में चित्त एक वस्तु पर केन्द्रित रहता है, जिसके साथ उसकी तादात्म्यता रहती है। चूँकि समाधि के ध्येय विषय की निरन्तर भिन्नता रहती है। इसलिए इस भिन्नता के आधार पर चार प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधि की व्याख्या हुई है।

(1) सवितर्क समाधि–यह समाधि का वह रूप है, जिसमें स्थूल विषय पर ध्यान लगाया जाता है। इस समाधि का उदाहरण मूर्ति पर ध्यान जमाना कहा जा सकता है।

(2) सविचार समाधि–यह समाधि का वह रूप है, जिसमें सूक्ष्म विषय पर ध्यान लगाया जाता है। कभी–कभी तन्मात्रा भी ध्यान का विषय होती है।

(3) सानन्द समाधि–इस समाधि में ध्यान का विषय इन्द्रियाँ रहती हैं। हमारी इन्द्रियाँ ग्यारह हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ + पाँच कर्मेन्द्रियाँ + मन। इन पर ध्यान लगाया जाता है। इन्द्रियों की अनुभूति आनन्ददायक होने के कारण इस समाधि को सानन्द समाधि कहा जाता है।

(4) सस्मित समाधि–समाधि की इस अवस्था में ध्यान का विषय अहंकार है। अहंकार को 'अस्मिता' कहा जाता है।

समाधि का दूसरा रूप असम्प्रज्ञात कहा जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय ही लुप्त हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेती है। इस अवस्था की प्राप्ति के साथ–ही–साथ सभी प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। आत्मा का सम्पर्क विभिन्न विषयों से छूट जाता है। इस समाधि में ध्यान की चेतना का पूर्णतः अभाव रहता है। इसलिए इस समाधि को निर्बीज समाधि कहा जाता है। यही आत्मा के मोक्ष की अवस्था है।[56]

ईश्वर का स्वरूप

योगदर्शन सांख्य के तत्त्वशास्त्र को अपनाकर उसमें ईश्वर का विचार जोड़ देता है। इसलिए योगदर्शन को सेश्वर–सांख्य कहा जाता है और सांख्य–दर्शन को निरीश्वरसांख्य कहा जाता है। योगदर्शन ईश्वर की सत्ता को मानकर ईश्वरवादी दर्शन कहलाने का दावा करता है।

योगदर्शन में मूलतः ईश्वर का व्यावहारिक महत्त्व है। योगदर्शन का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्तियों का निरोध है, जिसकी प्राप्ति 'ईश्वर प्रणिधान' से ही सम्भव मानी गयी है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है– ईश्वर की भक्ति। यही कारण है कि योग दर्शन में ईश्वर को ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय माना गया है।

यद्यपि योगदर्शन में ईश्वर का व्यावहारिक महत्त्व है; फिर भी इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि योगदर्शन में ईश्वर के सैद्धान्तिक पक्ष की अवहेलना की गई है, सर्वथा अनुचित होगा इसका कारण यह है कि योगदर्शन में ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या सैद्धान्तिक दृष्टि से की गई है तथा ईश्वर को प्रमाणित करने के लिए तर्कों का प्रयोग हुआ है।

पतंजलि ने स्वयं ईश्वर को एक विशेष प्रकार का पुरुष कहा है, जो दुख–कर्म विपाक से अछूता रहता है। ईश्वर स्वभावतः पूर्ण और अनन्त है। उसकी शक्ति सीमित नहीं है। ईश्वर नित्य है, वह अनादि और अनन्त है। वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। वह त्रिगुणातीत है। ईश्वर जीवों से भिन्न है। जीव, में अविद्या, राग, द्वेष आदि का निवास है; परन्तु ईश्वर इन सभी से रहित है। जीव कर्मनियम के अधीन है, जबकि ईश्वर कर्मनियम से स्वतन्त्र है। ईश्वर मुक्तात्मा से भी भिन्न है। मुक्तात्मा पहले बन्धन में रहते हैं, फिर बाद में चलकर मुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत ईश्वर नित्य मुक्त है।

ईश्वर एक है। यदि ईश्वर को अनेक माना जाए, तब दो ही सम्भावनायें हो सकती हैं। पहली सम्भावना यह हो सकती है कि अनेक ईश्वर एक–दूसरे को सीमित करते हैं, जिसके फलस्वरूप अनीश्वरवाद का प्रादुर्भाव होगा। अतः योग को एकेश्वरवादी दर्शन कहा जाता है।

योगदर्शन में ईश्वर को विश्व का सृष्टि कर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता नहीं माना गया है। विश्व की सृष्टि प्रकृति के विकास के फलस्वरूप ही हुई है। यद्यपि ईश्वर विश्व का सृष्टा नहीं है, फिर भी वह विश्व की सृष्टि में सहायक होता है। विश्व की सृष्टि पुरुष और प्रकृति के संयोजन से ही आरम्भ होती है। पुरुष और प्रकृति दोनों एक–दूसरे से भिन्न एवं विरुद्ध कोटि के हैं। दोनों को संयुक्त करने के लिए योगदर्शन में ईश्वर की मीमांसा हुई है। अतः ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है, जबकि प्रकृति

विश्व का उपादान कारण है। इस बात को विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र ने प्रामाणिकता दी है।

योगदर्शन में ईश्वर को दयालु, अन्तर्यामी, वेदों का प्रणेता, धर्म, ज्ञान और ऐश्वर्य का स्वामी माना गया है। ईश्वर को ऋषियों का गुरु माना गया है। योगमार्ग में जो रुकावटें आती हैं, उन्हें ईश्वर दूर करता है। जो ईश्वर की भक्ति करते हैं, उन्हें ईश्वर सहायता प्रदान करता है। 'ओऽम्' ईश्वर का प्रतीक है।

निष्कर्ष : योगदर्शन की अनमोल देन योग के अष्टांग मार्ग को कहा जाता है। यूँ तो भारत का प्रत्येक दर्शन किसी–न–किसी रूप में समाधि की आवश्यकता पर बल देता है, परन्तु योगदर्शन में समाधि को एक अनुशासन के रूप में चित्रित किया गया है। कुछ योग का अर्थ जादू–टोना समझकर योग–दर्शन के कटु आलोचक बन जाते हैं। योगदर्शन में योगाभ्यास की व्याख्या मोक्ष को अपनाने के उद्देश्य से ही की है। अतः हम कह सकते हैं कि योगदर्शन भी अध्यात्म को ही महत्त्व देता है।

(छ) मीमांसा–दर्शन में अध्यात्म

मीमांसा–दर्शन को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। मीमांसा दर्शन सिर्फ वेद की प्रामाणिकता को ही नहीं मानता, बल्कि वेद पर पूर्णतः आधारित है। वेद के दो अंग हैं, वे हैं – ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। वेद के ज्ञानकाण्ड की मीमांसा वेदान्त दर्शन में हुई है, जबकि वेद के कर्मकाण्ड की मीमांसा, मीमांसा दर्शन में हुई है। यही कारण है कि मीमांसा और वेदान्त को सांख्य–दर्शन, न्याय–वैशेषिक की तरह समान कहा जाता है।

जैमिनी को मीमांसा–दर्शन का प्रणेता कहा जाता है तथा इसके दो सम्प्रदाय हैं – एक के प्रणेता कुमारिलभट्ट और दूसरे सम्प्रदाय के प्रणेता प्रभाकर मिश्र हैं।

मीमांसा दर्शन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है –

(1) प्रमाण विचार, (2) तत्त्व विचार, (3) धर्म विचार। चूँकि अध्यात्म से सम्बन्धित धर्म विचार है, अतः यहाँ पर धर्म विचार का अध्ययन किया जाता है।

धर्म विचार

कर्मफल सिद्धान्त–कुछ मीमांसकों के मतानुसार स्वर्ग ही जीवन

का चरम लक्ष्य माना गया है। इस विचार के पोषक जैमिनी और शबद हैं। स्वर्ग को दुःख से शून्य शुद्ध सुख का स्थान कहा गया है। स्वर्ग की प्राप्ति कर्म के द्वारा ही सम्भव है। जो स्वर्ग चाहते हैं, उन्हें कर्म करना चाहिए। स्वर्ग की प्राप्ति यज्ञ, बलि आदि कर्मों के द्वारा ही सम्भव है।

मीमांसा के अनुसार उन्हीं कर्मों का पालन आवश्यक है जो 'धर्म' के अनुकूल हैं। मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड को ही धर्म मानती है। वेद नित्य ज्ञान के भण्डार तथा अपौरुषेय हैं। यज्ञ, बलि, हवन आदि के पालन का निर्देश वेद में निहित है, जिनके अनुष्ठान से ही व्यक्ति धर्म को अपना सकता है। अतः धर्म का अर्थ वेद–निहित कर्त्तव्य है। ऐसे कर्म जिनके अनुष्ठान में वेद सहमत नहीं है तथा जिन कर्मों का वेद में निषेध किया गया है, उनका परित्याग आवश्यक है।

मीमांसा के मतानुसार अधर्म का अर्थ वेद के निषिद्ध कर्मों का त्याग है। इस प्रकार कर्त्तव्यता और अकर्त्तव्यता का आधार वैदिक वाक्य है। उत्तम जीवन वह है, जिसमें वेद के आदेशों का पालन होता है।

मीमांसा दर्शन में कर्म पर अत्यधिक जोर दिया गया है। कर्म पर मीमांसकों ने इतना महत्त्व दिया है कि ईश्वर का स्थान गौण हो गया है। ईश्वर के गुणों का वर्णन मीमांसा में अप्राप्य है। यदि मीमांसा ईश्वर की सत्ता को मानता है तो इसलिए कि उनके नाम पर होम किया जाता है।

मीमांसकों के अनुसार कर्म का उद्देश्य देवता को सन्तुष्ट करना नहीं है, अपितु आत्मा की शुद्धि है। यहाँ पर मीमांसा वैदिक युग की परम्परा का उल्लंघन करता है। वैदिक–युग में इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए ये किये जाते थे। यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रभावित करने का प्रयास किया जाता था, ताकि वे इष्ट–साधन अथवा अनिष्ट निवारण करें। मीमांसा इसके विपरीत यज्ञ को वेद का आदेश मानकर करने की सलाह देती है।

वेद में अनेक प्रकार के कर्मों की चर्चा हुई है। वेद की मान्यता को स्वीकार करते हुए मीमांसा बतलाती है कि किन–किन कर्मों का पालन तथा किन–किन कर्मों का परित्याग करना चाहिए।

(1) नित्य कर्म–नित्य कर्म वे कर्म हैं, जिन्हें प्रत्येक दिन व्यक्ति को

करना ही पड़ता है। ऐसे कर्मों का उदाहरण – ध्यान, स्नान, संध्या, पूजा आदि कर्म हैं। दैनिक प्रार्थना भी नित्य कर्म है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः काल और संध्या काल प्रार्थना करना अनिवार्य है। इन कर्मों के करने से पुण्य संचय नहीं होता है, परन्तु इनके नहीं करने से पाप का उदय होता है।

(2) नैमित्तिक कर्म– नैमित्तिक कर्म उन कर्मों को कहा जाता है जो विशेष अवसरों पर किये जाते हैं। चन्द्र–ग्रहण अथवा सूर्य–ग्रहण के समय गंगा में स्नान करना नैमित्तिक कर्म का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त जन्म, मृत्यु और विवाह के समय किये गये कर्म भी नैमित्तिक कर्म के उदाहरण हैं। इस कर्म के करने से विशेष लाभ नहीं होता है, परन्तु यदि इन्हें नहीं किया जाए तो पाप संचय होता है।

(3) काम्य कर्म–ऐसे कर्म निश्चित फल की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, काम्य कर्म कहलाते हैं। पुत्र–प्राप्ति, धन–प्राप्ति, ग्रह–शान्ति आदि के लिए जो यज्ञ, हवन, बलि तथा अन्य कर्म किये जाते हैं, काम्य कर्म के उदाहरण हैं। प्राचीन मीमांसकों का कथन है – स्वर्गकामो यजेत। जो स्वर्ग चाहता है, वह यज्ञ करे। स्वर्ग–प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्म काम्य कर्म में समाविष्ट हैं। ऐसे कर्मों के करने से पुण्य संचय होता है, परन्तु इनके नहीं करने से पाप का उदय नहीं होता है।

(4) प्रायश्चित्त कर्म–यदि कोई व्यक्ति निषिद्ध कर्म को करता है तो उसके अशुभ फल से बचने के लिए प्रायश्चित्त होता है। ऐसी परिस्थिति में बुरे फल को रोकने के लिए अथवा कम करने के लिए जो कर्म किया जाता है। वह प्रायश्चित्त कर्म कहा जाता है। प्रायश्चित्त के लिए अनेक विधियों का वर्णन पूर्ण रीति से किया जाता है।

ऊपर वर्णित कर्मों में कुछ ऐसे कर्म (नित्य और नैमित्तिक कर्म) हैं, जिनका पालन वेद का आदेश समझकर करना चाहिए। इन कर्मों का पालन इसलिए करना चाहिए कि वेद वैसा करने के लिए आज्ञा देते हैं। कर्त्तव्य का पालन हमें इसलिए नहीं करना चाहिए कि उनसे उपकार होगा, बल्कि इसलिए करना चाहिए कि हमें कर्त्तव्य करना है।

मीमांसा की तरह कान्ट मानता है कि कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए होना चाहिए। भावनाओं या इच्छाओं के लिए नहीं। इसका कारण यह है कि भावनाएँ मनुष्य को कर्त्तव्य के पथ से नीचे ले जाती हैं। उक्त समता के

बावजूद मीमांसा और कान्ट के कर्म–सिद्धान्तों में कुछ अन्तर है। मीमांसा और कान्ट के कर्म सिद्धान्त में पहला अन्तर यह है कि मीमांसा फल के वितरण के लिए 'अपूर्व सिद्धान्त' को अंगीकार करती है, जबकि कान्ट फल के वितरण के लिए ईश्वर की मीमांसा करती है। मीमांसा और कान्ट के कर्म सिद्धान्त में दूसरा अन्तर यह है कि मीमांसा कर्त्तव्यता का मूल स्रोत एकमात्र वेद–वाक्य को मानती है, जबकि कान्ट कर्त्तव्यता का मूल स्रोत आत्मा के उच्चतररूप को मानता है।

मीमांसा का कर्म सिद्धान्त गीता के निष्काम कर्म से भी मिलता–जुलता है। एक व्यक्ति को कर्म के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, परन्तु उसे कर्म के फलों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। गीता का कथन है कि कर्म करना ही तुम्हारा अधिकार है, फल की चिन्ता मत करो।[57]

मीमांसा के अनुसार विश्व की सृष्टि ऐसी है कि कर्म करनेवाला उसके फल से वंचित नहीं हो सकता। वैदिक कर्म को करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। प्रत्येक कर्म का अपना फल होता है। जब एक देवता को बलि दी जाती है तो उसके फलस्वरूप विशेष पुण्य संचय होता है। वे सभी फल मुख्य लक्ष्य स्वर्ग अथवा मोक्ष को अपनाने में सहायक हैं। अब, यह प्रश्न उठता है कि यह कैसे सम्भव है कि अभी के किये गये कर्म का फल बाद में स्वर्ग में मिलेगा? कर्म का फल कर्म के पालन के बहुत बाद कैसे मिल सकता है। मीमांसा इस समस्या का समाधान करने के लिए अपूर्व सिद्धान्त का सहारा लेती है, अपूर्व का शाब्दिक अर्थ है, वह जो पहले नहीं था। मीमांसा मानती है कि इस लोक में किये गये कर्म एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न करते हैं। जिसे अपूर्व कहा जाता है। मृत्यु के बाद आत्मा परलोक में जाती है। जब उसे अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। 'अपूर्व' के आधार पर ही आत्मा को सुख–दुख भोगने पड़ते हैं।

कुमारिल के अनुसार 'अपूर्व' अदृश्य शक्ति है, ज़ो आत्मा के अन्दर उदित होती है। कर्म की दृष्टि से 'अपूर्व' कर्म–सिद्धान्त कहा जाता है। अपूर्व सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कारण में शक्ति निहित है, जिससे फल निकलता है। एक बीज में शक्ति अन्तर्भूत है, जिसके कारण ही वृक्ष का उदय होता है। कुछ लोग यहाँ पर आपत्ति कर सकते हैं कि यदि बीज में वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति निहित है तो क्यों नहीं सर्वदा बीज से वृक्ष का आविर्भाव होता है।

मीमांसा इसका कारण बाधाओं का उपस्थित होना बतलाती है, जिसके कारण शक्ति का ह्रास हो जाता है। सूर्य में पृथ्वी को आलोकित करने की शक्ति है, परन्तु यदि मेघ के द्वारा सूर्य को ढंक लिया जाए तो सूर्य पृथ्वी को आलोकित नहीं कर सकता है। अपूर्व सिद्धान्त सार्वभौम नियम है, जो मानता है कि बाधाओं के हट जाने से प्रत्येक वस्तु में निहित शक्ति कुछ–न–कुछ फल अवश्य देगी। 'अपूर्व' को संचालित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। यह स्वसंचालित है। 'अपूर्व' की सत्ता का ज्ञान वेद से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अर्थापत्ति भी 'अपूर्व' का ज्ञान देता है। शंकर ने 'अपूर्व' की आलोचना यह कहकर की है कि 'अपूर्व' अचेतन होने के कारण किसी आध्यात्मिक सत्ता के अभाव में संचालित नहीं हो सकते, कर्म के फलों की व्यवस्था अपूर्व से करना असंगत है।

मोक्ष विचार

प्राचीन मीमांसकों ने स्वर्ग को जीवन का चरम लक्ष्य माना था, परन्तु मीमांसा दर्शन के विकास के साथ–ही–साथ बाद के समर्थकों ने मोक्ष के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने मोक्ष के स्वरूप और साधनों का विचार किया है। ऐसे मीमांसकों में प्रभाकर और कुमारिल का नाम लिया जा सकता है।

मीमांसा के मतानुसार आत्मा स्वभावतः अचेतन है। आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है, जब आत्मा का संयोग शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से होता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा का सम्पर्क शरीर, इन्द्रिय, मन से टूट जाता है। इसका फल यह होता है कि मोक्ष की अवस्था में आत्मा के धर्म और अधर्म सर्वदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप पुनर्जन्म का अन्त हो जाता है, क्योंकि धर्म और अधर्म के कारण ही आत्मा को विभिन्न शरीरों में जन्म लेना पड़ता है। जब धर्म और अधर्म का क्षय हो जाता है तो आत्मा का सम्पर्क शरीर से हमेशा के लिए छूट जाता है।

मोक्ष दुख के अभाव की अवस्था है। मोक्षावस्था में सांसारिक दुःखों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। मोक्ष को मीमांसकों ने आनन्द की अवस्था नहीं माना है। कुमारिल्ल का कथन है कि यदि मोक्ष को आनन्दरूप माना जाए तो वह स्वर्ग के तुल्य होगा तथा नश्वर होगा। मोक्ष नित्य है, क्योंकि वह अभावरूप है। अतः मोक्ष को आनन्ददायक अवस्था कहना

भ्रामक है। मीमांसा का मोक्ष–विचार न्याय–वैशेषिक के मोक्ष–विचार से मिलता–जुलता है। नैयायिकों ने मोक्ष को आनन्द की अवस्था नहीं माना है। नैयायिकों ने मोक्ष को आत्मा के ज्ञान, सुख, दुख से शून्य अवस्था कहा है।

मीमांसा के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान और कर्म से सम्भव है। प्रभाकर ने काम्य और निषिद्ध कर्मों को न करने तथा नित्य कर्मों के अनुष्ठान एवं आत्मज्ञान को मोक्ष का उपाय कहा है। आत्मज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है, क्योंकि आत्म–ज्ञान ही धर्माधर्म के संचय को रोककर शरीर के आत्यन्तिक उच्छेद का कारण हो जाता है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक हैं।

कुमारिल्ल ने भी कहा है कि जो शरीर के बन्धन से छुटकारा पाना चाहता है, उसे काम्य और निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिए; लेकिन नित्य और नैमित्तिक कर्मों का उसे त्याग नहीं करना चाहिए। इन कर्मों को न करने से पाप होता है और करते रहने से पाप नहीं होता। केवल कर्म से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है। केवल आत्मज्ञान को ही मोक्ष का साधन नहीं समझना चाहिए। कुमारिल्ल के मतानुसार मोक्ष कर्म और ज्ञान के सम्मिलित प्रयास से सम्भव है। अतः प्रभाकर तथा कुमारिल्ल के मोक्ष विचार में अत्यधिक समता है।

निष्कर्षतः मीमांसा के दर्शन सम्बन्धी विचार और विवेचन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट है कि चिन्तन बहुत गम्भीर नहीं है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में अधिक गहराई नहीं है। फिर भी मीमांसा ही वह शास्त्र है, जिसके नियमों का सहारा लेकर धर्मशास्त्रों की बहुत–सी जलती हुई समस्याओं का समाधान किया गया है। मोक्ष को प्राप्त करने में आत्मा की अहम भूमिका बताते हुए कुमारिल भट्ट कहते हैं कि मोक्षावस्था में जब मन और इन्द्रियाँ भी नहीं होतीं, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप अर्थात् ज्ञान शक्तिरूप में रहती है। मोक्षावस्था में आत्मा एक ज्ञानशक्ति सत्ता मात्र है। ऐसा मानकर भी वे आत्मा की स्थिति को अर्थात् अध्यात्म को स्वीकार करते हैं।

3. अध्यात्म विभिन्न मनीषियों की दृष्टि में–

भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषता व्यावहारिकता है। भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए दर्शन का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने को दुःखों के आवरण से घिरा हुआ पाया, तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकारा पाने की कामना की। इस प्रकार दुःखों से निवृत्ति के लिए

उसने दर्शन को अपनाया। इसीलिए प्रो. हिरियाना ने कहा है–'पाश्चात्य दर्शन की भाँति भारतीय दर्शन का आरम्भ आश्चर्य एवं उत्सुकता से न होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हुआ था। दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्देश्य था, जीवन के दुःखों का अन्त ढूँढना और तात्त्विक प्रश्नों का प्रादुर्भाव इसी सिलसिले में हुआ।[58] ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ज्ञान की चर्चा ज्ञान के लिए न होकर मोक्षानुभूति के लिए हुई है। अतः भारत में दर्शन का अनुशीलन मोक्ष के लिए ही किया गया है। मोक्ष का अर्थ है–दुःख से निवृत्ति। यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें समस्त दुःखों का अभाव होता है। दुःखाभाव अर्थात् मोक्ष को परम लक्ष्य मानने के फलस्वरूप भारतीय दर्शन को मोक्षदर्शन कहा जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा मानी गयी है। यही कारण है कि चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में आत्मा का अनुशीलन हुआ है। आत्मा के स्वरूप की व्याख्या भारतीय दर्शन के अध्यात्मवाद का सबूत है। भारतीय दर्शन को आत्मा की परम महत्ता प्रदान करने के कारण कभी–कभी आत्मविद्या भी कहा जाता है। अतः व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषतायें हैं। इस अध्याय में विभिन्न विद्वानों द्वारा आत्मा के विषय में की गई टिप्पणियों, चर्चाओं एवं परिभाषाओं पर अध्ययन किया जायेगा।

(1) व्यास के अनुसार आत्मा का स्वरूप–

महाकवि व्यास ने गीता की रचना की है। उन्होंने गीता में जीवात्मा को ईश्वर का अंश कहा है। भगवान ने कहा है कि 'जीव मेरा ही अंश है'[59] इस प्रकार जीवात्मा को गीता में गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। जीवात्मा एक कर्ता है, वह शरीरधारी आत्मा है। मनुष्य जीवात्मा है। गीता में आत्मा को अमर माना गया है। आत्मा की अमरता का उल्लेख करते हुए व्यास ने लिखा है–'यह आत्मा किसी काल में न जन्मता है और न मरता है'। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।[60] इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते हैं और इसको आग जला नहीं सकती है, इसको पानी भिगा या गला नहीं सकता और वायु सुखा भी नहीं सकती है।

यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरन्तन है।[61] चूँकि आत्मा अमर है, इसलिए आत्मा का पुनर्जन्म होता है। अमरता की धारणा पुनर्जन्म की धारणा को बल देती है। जीवात्मा का नया शरीर धारण करना मनुष्य के नये वस्त्र धारण करने के समान है।[62] गीता

में मोक्ष की प्राप्ति के लिए जीवात्मा को इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का आदेश दिया गया है।

(2) चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी विचार–

चार्वाक चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं मानता है। चैतन्य शरीर का गुण है। शरीर में ही चेतना का अस्तित्व रहता है। चार्वाक आत्मा को शरीर से अभिन्न स्वीकार करता है। आत्मा और देह के बीच अभेद मानने के फलस्वरूप चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी विचारों को देहात्मवाद कहा जाता है। भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा अमर है–इस बात का खण्डन करते हुए चार्वाक आत्मा को नाशवान मानते हैं। शरीर के नाश के साथ ही आत्मा की स्थिति का भी अन्त हो जाता है। वर्तमान जीवन के अतिरिक्त कोई दूसरा जीवन नहीं है। आत्मा एक शरीर के बाद दूसरे शरीर को नहीं धारण करती है। जिस प्रकार शरीर मृत्यु के उपरान्त भूत में मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी भूत में विलीन हो जाती है। चार्वाक ने कहा भी है–शरीर के भस्म होने के उपरान्त आत्मा कहाँ से आयेगी?[63]

(3) गौतम बुद्ध के आत्मा सम्बन्धी विचार–

बुद्ध ने शाश्वत आत्मा में विश्वास उसी प्रकार हास्यास्पद कहा है, जिस प्रकार कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखना हास्यास्पद है।

बुद्ध के मतानुसार आत्मा अनित्य है। यह अस्थायी शरीर और मन का संकलन मात्र है। विलियम जेम्स की तरह बुद्ध ने भी आत्मा को विज्ञान का प्रवाह माना है।

बुद्ध के आत्मा–सम्बन्धी विचार उपनिषद् के आत्मा–विचार के प्रतिकूल हैं। उपनिषद् दर्शन में शाश्वत आत्मा को सत्य माना गया है, परन्तु बुद्ध ने इसके विपरीत अनित्य आत्मा की सत्यता प्रमाणित की है। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने दृश्यजीव की सत्यता स्वीकार की है, जबकि उपनिषद् में दृश्यातीत आत्मा को सत्य माना गया है। ह्यूम के आत्मा सम्बन्धी विचार में बुद्ध के आत्मा–विचार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। ह्यूम ने कहा है – "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो जब अपनी इस आत्मा को देखने के लिए इसका गहरा विश्लेषण करता हूँ, तब किसी न किसी विशेष संवेदना या विज्ञान से ही टकराकर रह जाता हूँ जो संवेदना या विज्ञान, गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, दुःख या सुख आदि के होते हैं। किसी भी समय मुझे किसी संवेदना से भिन्न आत्मा की प्राप्ति नहीं होती और न कभी मैं संवेदना के अतिरिक्त कुछ और देख पाता हूँ।"[64]

(4) कुन्दकुन्द के अनुसार आत्मा का स्वरूप–

जिस सत्ता को अन्य भारतीय दर्शनों में साधारणतया आत्मा कहा गया है, उसी को कुन्दकुन्द ने 'जीव' की संज्ञा दी है। वस्तुतः जीव और आत्मा एक ही सत्ता के दो भिन्न–भिन्न नाम हैं। चेतना जीव का लक्षण है। समस्त सुख–दुःख की प्रतीति इसी चेतना से होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के सर्वांगीण स्वरूप को इस प्रकार लिखा है –

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदा पहू कत्ता।
भोत्ता य देह भेत्ती णहि मुत्तो कम्म संजुत्तो।।[65]

जीव चैतन्य स्वरूप है, वह जानने–देखनेरूप उपयोगवाला है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, अपने शरीर के बराबर है तथा यह मूर्तिक नहीं है, फिर भी कर्म संयुक्त है।

(5) पूज्य कानजी स्वामी के अनुसार आत्मा का स्वरूप–

पूज्य कानजी स्वामी ने जगत की समस्त आत्माओं को भगवान का दर्जा देकर,स्वभाव से सभी जीवों को भगवान आत्मा कहा है। उनके अनुसार जो जीव अपनी आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते वे जीव स्वभाव से तो भगवान हैं किन्तु प्राप्त पर्याय में तन्मयता के कारण अपने ज्ञायक स्वरूप से अनभिज्ञ है। कानजी स्वामी अपने प्रवचनों में ऐसे जीवों को 'भूलेला भगवान' कहकर सम्बोधित करते थे। कानजी स्वामी के अनुसार आत्मा सर्वशक्ति सम्पन्न, प्रभू, नित्य, अजन्मा,एक एवं अनादि तत्त्व है।

(6) महर्षि गौतम के आत्मा सम्बन्धी विचार–

गौतम के मतानुसार आत्मा एक द्रव्य है। सुख–दुःख, राग–द्वेष, इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के गुण हैं। धर्म और अधर्म भी आत्मा के गुण हैं और शुभ–अशुभ कर्मों से उत्पन्न होते हैं। गौतम आत्मा को अचेतन स्वीकारते हैं। आत्मा में चेतना का संचार एक विशेष परिस्थिति में होता है। चेतना का उदय आत्मा में तभी होता है, जब आत्मा का सम्पर्क मन के साथ तथा मन का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है तथा इन्द्रियों का बाह्य जगत के साथ सम्पर्क होता है। यदि आत्मा का ऐसा सम्पर्क न हो तो आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव नहीं हो सकता है। इस प्रकार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है।

(7) कणाद के आत्मा सम्बन्धी विचार–

कणाद ने आत्मा उस सत्ता को कहा है, जो चैतन्य का आधार है। इसीलिए कहा गया है कि आत्मा वह द्रव्य है, जो ज्ञान का आधार है।

वस्तुतः कणाद ने दो आत्माओं को माना है – जीवात्मा एवं परमात्मा

जीवात्मा की चेतना सीमित है, जबकि परमात्मा की चेतना असीमित है। जीवात्मा अनेक हैं, जबकि परमात्मा एक है। कणाद ने आत्मा को अमर माना है। यह अनादि और अनन्त है।

(8) महर्षि कपिल के अनुसार आत्मा–

महर्षि कपिल ने पुरुष को आत्मा और प्रकृति को अनात्मा माना है। आत्मा को दृष्टा और प्रकृति दृश्य एवं आत्मा को ज्ञाता और प्रकृति को ज्ञेय माना है। उन्होंने आत्मा को सत्त्व, रजस्, तमस् से शून्य माना है। जबकि प्रकृति को सत्त्व, रजस् और तमस् से अलंकृत माना है। इसलिए पुरुष को त्रिगुणातीत और प्रकृति को त्रिगुणमयी कहा गया है।

कपिल ने पुरुष को शुद्ध चैतन्य माना है। चैतन्य आत्मा में सर्वदा निवास करता है। आत्मा को जागृत अवस्था, स्वप्नावस्था या सुषुप्तावस्था में से किसी भी अवस्था में माना जाए, उसमें चैतन्य वर्तमान रहता है। इसलिए चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं, बल्कि स्वभाव माना गया है। आत्मा प्रकाशरूप है, वह स्वयं तथा संसार के अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करती है।

(9) शंकर के अनुसार आत्मा–

शंकर आत्मा को ब्रह्म कहते हैं। आत्मा ही एकमात्र सत्य है। आत्मा की सत्यता पारमार्थिक है। शेष सभी वस्तुएँ व्यावहारिक सत्यता का ही दावा कर सकती हैं। चैतन्य आत्मा का स्वरूप माना गया है। शंकर ने आत्मा को नित्य, शुद्ध और निराकार माना है। आत्मा यथार्थतः भोक्ता और कर्ता नहीं है। वह उपाधियों के कारण ही भोक्ता और कर्ता दिखाई पड़ता है। शुद्ध चैतन्य होने के कारण आत्मा का स्वरूप ज्ञानात्मक है। वह स्वयं प्रकाश है तथा विभिन्न विषयों को प्रकाशित करता है। शंकर आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को 'तत्त्वमसि' से पुष्टि करते हैं।

(10) रामानुज के आत्मा सम्बन्धी विचार–

रामानुज के दर्शन में जीवात्मा ब्रह्म का अंग है। ब्रह्म में तीन चीजें निहित हैं – चित्, अचित् और ईश्वर। ब्रह्म में निहित चित् ही जीवात्मा है। जीवात्मा शरीर 'मन' इन्द्रियों से भिन्न है। जीवात्मा ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर जीवात्मा का संचालक है। जीवात्मा संसार के भिन्न–भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है, इसलिए वह ज्ञाता है। जीवात्मा रामानुज के मतानुसार तीन प्रकार के होते हैं– (1) बद्धजीव (2) मुक्त जीव और (3) नित्य जीव। ऐसे जीव जिनका सांसारिक जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है, बद्ध जीव

कहा जाता है। ये जीव मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे जीव जो सब लोकों में अपनी इच्छानुसार विचरण करते हैं, मुक्त जीव कहलाते हैं। नित्य जीव वे हैं, जो संसार में कभी नहीं आते हैं, इनका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी विद्वानों ने अपने–अपने दर्शनों के अनुसार आत्मा को स्वीकार कर आत्मा को परिभाषित किया है। निश्चय ही बिना आत्मा की स्वीकृति के मोक्ष होना सम्भव नहीं, अतः शाश्वत सुख की इच्छा रखनेवाले जीव को, आत्मा को जानकर मन को वश में करना चाहिए, तभी मोक्ष–सुख को प्राप्त किया जा सकता है।

4. अध्यात्म का महत्त्व

आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव ज्ञानानन्द है। उस ज्ञानानन्द स्वभाव को जानने, मानने और अनुभव करने का नाम ही धर्म है। इससे ही सच्चा सुख या निराकुलतारूप सुख प्राप्त होता है। संसार–भ्रमण से छुटकारा तभी मिलता है, जब जीव आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण करता है। आचार्य समन्तभद्र भी प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि –

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।

अर्थात् एक धर्म ही है, जो हमें संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में स्थापित करता है। वर्तमान में जहाँ सम्पूर्ण विश्व विषय–वासनाओं से आक्रान्त है, हर जगह अशान्ति का बोलबाला है। आपसी वैमनस्य की बढ़ती चिन्गारी में एक अध्यात्म ही लोगों को शान्ति दिला सकता है। अध्यात्म का महत्त्व यही है कि सभी जीव संसार मार्ग से हटकर मोक्षमार्ग में लगे सभी अपने स्वतत्त्व को पहचान कर अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करें।

विपरीत ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान, जो मानव को संसार में आसक्त करता है, का निःशेषीकरण आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के द्वारा ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म शास्त्र आत्मज्ञान की ज्योति प्रज्वलित कर, अज्ञान के गाढ़ अन्धकार में मानव का पथ प्रदर्शन करते हैं 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' – इस गीतोक्ति के अनुसार जब विद्वान भी कर्म और अकर्म के सही स्वरूप को नहीं जान पाते, तब अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन मनन से उत्पन्न होनेवाला विवेक ही हमें हमारे करणीय का उपदेश देता है।

अन्य सांसारिक उपायों की उपयोगिता का सम्बन्ध केवल धर्म, अर्थ

और काम से है अर्थात् इनमें से किसी के द्वारा केवल धर्म, अर्थ या काम की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी महान लौकिक उपाय के द्वारा इन तीनों की प्राप्ति हो जाए, परन्तु परम पुरुषार्थरूप चतुर्थ वर्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति केवल आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है – ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

वास्तव में, मनुष्य के अन्तःकपाट को उद्घाटित करके हृदय में आत्मतत्त्व के दर्शन करानेवाली विद्या अध्यात्म विद्या ही है, किन्तु इस प्रयोजन की सिद्धि केवल किसी धार्मिक ग्रन्थ को पढ़ लेने या रट लेने मात्र से ही नहीं हो सकती। इसके लिए साधक को अत्यन्त कड़ी साधना करनी होती है। प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा ने लिखा है कि 'जब हम भारतीय दर्शन की ओर दृष्टिपात करते हैं, तब उसे अध्यात्मवाद के रंग में रँगा पाते हैं। भारतीय दर्शन में आध्यात्मिक ज्ञान को प्रधानता दी गई है। यहाँ का दार्शनिक सत्य के सैद्धान्तिक विवेचन से ही सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि वह सत्य की अनुभूति पर जोर देता है। आध्यात्मिक ज्ञान तार्किक ज्ञान से उच्च है। तार्किक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत विद्यमान रहता है, जबकि आध्यात्मिक ज्ञान में वह द्वैत मिट जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान निश्चित एवं संशयहीन है।'

निष्कर्षतः मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा मानी गयी है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा का अनुशीलन किया है और आत्मा के स्वरूप की व्याख्या इनके अध्यात्मवाद का सबूत है। भारतीय दर्शन को आत्मा की परम महत्ता प्रदान करने के कारण ही अध्यात्म विद्या भी कहा जाता है।

गुरु स्तुति

धनि–धनि ते मुनि गिरि वनवासी।
कौड़ी लाल पास नहिं जाके,जिन छेदी आसापासी।
आतम–आतम, पर–पर जानै, द्वादश तीन प्रकृति नासी।।
जा दुःख देख दुःखी सब जगह्वै, सो दुःख लख सुख ह्वै तासी।
जाकों सब जग सुख मानत है, सो सुख जान्यो दुःखरासी।।
वाहज भेष कहत अन्तर गुण, सत्य मधुर हितमित भासी।
द्यानत ते शिवपंथ पथिक हैं, पांव परत पातक जासी।

(ख) द्यानतराय के काव्य में अध्यात्म

द्यानतराय आध्यात्मिक कोटि के सुकवि थे। उन्होंने जिनदेव, जिनगुरु, जिनशास्त्र और जिनधर्म से प्रभावित होकर काव्य की रचना की। कविवर द्यानतराय ने अपने साहित्य में दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक विचारों को अभिव्यक्त किया है।

मूलतः द्यानतराय के साहित्य में जैनधर्म का स्वर प्रतिध्वनित होता है। यद्यपि उनका साहित्य धार्मिकता से ओतप्रोत है, फिर भी उसमें साहित्यिक सौष्ठव दर्शनीय है। वैसे भी किसी धार्मिक रचना का साहित्य होने के साथ विरोध नहीं है; इसलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी जैसे मनीषी विद्वान समस्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक साहित्य को काव्य की सीमा में स्वीकार करते हुए निर्देश देते हैं –

धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।[66]

द्यानतराय के साहित्य में जैनधर्मानुप्राणित विचार निम्न हैं –

(1) द्यानतराय के आत्मा–परमात्मा पर विचार– संसार के धर्मों में धर्म की व्याख्या अपने–अपने दृष्टिकोण से की गई है, किन्तु जैनधर्म में कहा है – **'वत्थु सहावो धम्मो'** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना, पानी का स्वभाव शीतलता, आकाश द्रव्य का स्वभाव अवगाहना देना, धर्म द्रव्य का चलने में व अधर्म द्रव्य का ठहरने में निमित्त होना, काल द्रव्य का वर्तना में निमित्त होना और पुद्गल द्रव्य का स्वभाव स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण है। इसी प्रकार आत्मद्रव्य का स्वभाव जानना और देखना है।

इस आत्मा के बारे में प्रायः विश्व के सभी धर्मों ने ज्यादा कुछ नहीं कहा। अधिकतर धर्म तो इसकी व्याख्या के बारे में मौन हैं। वे ईश्वर की एक कृति को ही आत्मा कहते हैं। कुछ वस्तुओं के संयोग से एक चेतना शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी को आत्मा कहते हैं, जो कुछ समय बाद नष्ट हो जाती है। कुछ अदृश्य सर्वशक्तिमान आत्मा है, उसे ईश्वर कहते हैं। वही जगत का कर्ता–धर्ता है व सभी आत्माओं (प्राणियों) में उसी की सत्ता स्वीकार करते हैं और जब प्राणी मर जाता है तो वह आत्मा उसी में विलीन हो जाता है।

द्यानतराय ने आत्मा को अनेक उपमानों से दर्शाया है। जैसा कि उन्होंने एक पद में कहा है –

आतम रूप अनुपम है घट माहिं विराजै।
जाके सुमरन जाप सो, भव–भव दुःख भाजै हो।।[67]

आत्मा को जानने में ही सार की बात कहते हुए द्यानतराय कहते हैं कि बिना आत्मा के जाने दुःख का अभाव नहीं होगा और जब तक राग–द्वेष विभाव भावों का अभाव नहीं होगा, तब तक सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

वे अपने आध्यात्मिक पदों के माध्यम से संसारीजनों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं –

आतम अनुभव करना रे भाई।। (टेक)
जब लौं भेद ज्ञान नहिं उपजै, जनम मरन दुःख भरना रे।। भाई।।
आतम पढ़ नव तत्त्व बखाने, व्रत तप संजम धरना रे।
आतम–ज्ञान बिना नहिं कारज, जोती–संकट परना रे।।
सकल ग्रन्थ दीपक हैं भाई, मिथ्या तमके हरना रे।
कहा करैं ते अंध पुरुष को, जिन्हैं उपजना मरना रे।
द्यानत जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
सोऽहं ये दो अक्षर जपकै, भव जल पार उतरना रे।।[68]

आत्मा के स्वरूप के बारे में बताते हुए द्यानतरायजी कहते हैं कि –

अब हम आतम को पहचाना जी।। टेक।।
जैसा सिद्धक्षेत्र में राजत, तैसा घट में जाना जी।
देहादिक परद्रव्य न मेरे, मेरा चेतन बाना जी।
द्यानत जो जानै सो स्याना, नहिं जाने सो दिवाना जी।।[69]

आत्मज्ञान नहीं करने वालों को एवं बाह्याडम्बरों में फँसने वाले पण्डितों, विद्वानों को फटकारते हुए कविवर द्यानतराय कहते हैं कि –

जो तैं आतम हित नहीं कीना।।
रामा रामा धन धन काजै नर भव फल नहीं लीना।। जो।।
जप तप करि कै लोक रिझाये प्रभुता के रस भीना।
अंतरगति परनमन (न) सोधे एकौ गरज सरीना।।
बैठि सभा में बहु उपदेशे आप भए परवीना।

ममता डोरी तोरी नाहीं उत्तम तै भए हीना।।
द्यानत मन वच काय लगाकै जिन अनुभौ चितदीना।
अनुभौ धारा ध्यान विचारा मंदर कलस नवीना।।[70]

कविवर द्यानतराय ने जैनोक्त मतानुसार ही आत्मा को व्यक्त किया है। जैसा कि वृहद् द्रव्यसंग्रह में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया है।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।।3।।[71]

भावार्थ – तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु और आनपान इन चारों प्राणों को जो धारण करता है, वह व्यवहार नय से जीव है। निश्चयनय से जिसके चेतना है, वही जीव है।।3।।

द्यानतराय ने भी एक सवैये में यही कहा है।

चेतना सहित जीव तिहुँकाल राजत है।
ग्यान दरसन भाव सदा जस लहिए।
रूप रस गंध फास पुद्गल कौ विलास।
मूरतीक रूपी विनासीक जड़ कहिये।।
याही अनुसार परदर्व को ममत्त डारि।
अपनो सुभाव धारि आप माहिं रहिए।
करिए यही इलाज जातैं होत आप काज।
राग दोष मोह भावकौ समान दहिए।।[72]

जैन मतानुसार आत्मा को सिद्ध के समान शुद्ध स्वीकारा गया है अर्थात् जिस प्रकार का आत्मा अरहन्त और सिद्धों में स्थित है, उसी प्रकार का आत्मा संसारी प्राणियों में है; किन्तु भेद कर्मों की उपस्थिति का पड़ जाता है। जैसा कि कहा गया है –

बिन देह अविनाशी, अतीन्द्रिय, शुद्ध निर्मल सिद्ध ज्यों।
लोकाग्र में जैसे विराजें, जीव हैं भवलीन त्यों।।

अर्थ–जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवन्त अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्ध आत्मा हैं, उसी प्रकार संसार में सब जीव जानना।

उसी प्रकार समयसार की गाथा 49 में भी कहा है –

व्यवहार नय से हैं कहे सब जीव के ही भाव ये।
हैं शुद्ध नय से जीव सब भवलीन सिद्ध स्वभाव से।।

अर्थात् जीव के जो भाव कहे गये हैं– वे व्यवहारनय का आश्रय करके संसारी जीवों में विद्यमान कहे गये हैं। शुद्धनय से संसार में रहनेवाले सर्व ज़ीव सिद्ध स्वभावी हैं।

तत्त्वसार भाषा में आत्मा के बारे में द्यानतराय ने इसप्रकार कहा है –

आतम तत्त्व कह्यौ गणधार, स्वपर भेदतैं दोइ प्रकार।
अपनौ जीव स्वतत्त्व बखानि, पर अरहंत आदि जिय जानि।।3।।[73]

अर्थात् आत्मा दो प्रकार का है – (1) स्वतत्त्व और (2) परतत्त्व।

(1) स्वतत्त्व अर्थात् स्व का आत्मा।

(2) परतत्त्व अर्थात् अरहंत आदि का आत्मा।

द्यानतराय के परमात्मा सम्बन्धी विचार– जैन मतानुसार आत्मा के तीन भेद हैं – (1) बहिरात्मा (2) अन्तरात्मा और (3) परमात्मा। जैसा कि पण्डित दौलतरामजी कहते हैं –

बहिरातम, अन्तर आतम परमातम, जीव त्रिधा है;
देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।
उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर आतमज्ञानी,
द्विविध संग बिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी।[74]

(1) बहिरात्मा– जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, उन्हें बहिरात्मा कहते हैं।

(2) अन्तरात्मा– जो शरीर और आत्मा को अपने भेदविज्ञान से भिन्न–भिन्न मानते हैं, वे अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं। उस अन्तरात्मा के तीन भेद हैं – उत्तम, मध्यम और जघन्य। उनमें अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक वर्तते हुए शुद्ध उपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

मध्यम, जघन्य अन्तरात्मा तथा सकल परमात्मा का स्वरूप –

मध्यम अन्तर–आतम हैं जो देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टि तीनों शिवमग चारी।
सकल निकल परमातम द्वैविध तिन में घाति निवारी।
श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी।।5।।[75]

जो निश्चय सम्यग्दर्शनादि सहित हैं; तीन कषायरहित, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को अंगीकार करके अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, किसी को इष्ट–अनिष्ट मानकर राग–द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो अस्तित्त्व ही जिनके नहीं रहा है– ऐसी अन्तरंगदशा सहित बाह्य दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी हुए हैं और छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान के समय अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डरूप से पालन करते हैं। वे तथा जो अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानीय ऐसे दो कषाय के अभाव सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं, वे मध्यम अन्तरात्मा हैं अर्थात् छठवें और पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं।

परमात्मा का स्वरूप– जो परमपद में स्थित हैं, वे परमात्मा हैं। ये परमात्मा सकल और निकल के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

(1) सकल परमात्मा– चार घाति कर्मों को नाश करने वाले लोक तथा अलोक को जानने–देखने वाले अरहन्त परमेष्ठी शरीर सहित सकल परमात्मा कहलाते हैं।

(2) निकल परमात्मा– जो आठ कर्मों से रहित लोकाग्र में स्थित हैं तथा जिनके परम औदारिक शरीर का भी अभाव हो गया है, वे सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित होने से निकल परमात्मा हैं। जैसा कि दौलतराम जी ने लिखा है –

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्मरूप वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।।[76]

इस प्रकार जैन मतानुसार द्यानतराय ने परमात्मा के दोनों ही रूपों सकल और निकल परमात्मा का वर्णन किया है। द्यानतराय ने परमात्मा को अन्तर्यामी, तीन लोक के ज्ञाता, तीन लोक का स्वामी आदि माना है। जैसा कि देवपूजा में उन्होंने लिखा है –

बहु तृषा सतायो, अति दुःख पायो, तुम पै आयो जल लायो।
उत्तम गंगाजल, शुचि अति शीतल, प्रासुक निर्मल गुन गायो।
प्रभु अन्तरजामी, त्रिभुवननामी, सबके स्वामी, दोष हरो।
या अरज सुनीजै ढील न कीजै, न्याय करीजै दया करो।।[77]

उसी प्रकार देव का स्वरूप बताते हुए द्यानतराय देवपूजा की जयमाला में इस प्रकार लिखते हैं –

गुण अनन्त को कह सके, छियालीस जिनराय।
प्रगट सुगुन गिनती कहूँ, तुम ही होहु सहाय।।
एक ज्ञान केवल जिन स्वामी, दो आगम अध्यातम नामी।
तीन काल विधि परगट जानी, चार अनन्त चतुष्टय ज्ञानी।।
पंच परावर्तन परकासी, छहों दरब गुन परजय भासी।
सप्तभंग वानी परकाशक, आठों कर्म महारिपु नाशक।।[78]

इसी प्रकार देव–शास्त्र–गुरु पूजन की जयमाला में अरहंत एवं सिद्ध का स्वरूप इस प्रकार लिखा है –

चउ कर्म सु त्रेसठ प्रकृति नाशि, जीते अष्टादश दोषराशि।
जे परम सुगुण हैं अनन्त धीर, कहिवत के छयालिस गुण गंभीर।।
शुभ समवशरण शोभा अपार, शत इन्द्र नमत कर सीस धार।
देवाधिदेव अरहन्त देव, वन्दौं मन–वच–तन कर सुसेव।।[79]

इस प्रकार द्यानतराय ने अपने काव्य में अरहन्त परमात्मा के अठारह दोषों का वर्णन किया है, जो निम्न हैं –

(1) क्षुधा, (2) तृषा, (3) वृद्धपना, (4) आतंक अर्थात् शरीर सम्बन्धी व्याधि, (5) जन्म अर्थात् कर्म के वश से चतुर्गति में उत्पत्ति, (6) अन्तक अर्थात् मृत्यु, (7) भय अर्थात् इहलोक का भय, परलोक भय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, अकस्मात्भय–ऐसे सात प्रकार के भय, (8) स्मय अर्थात् गर्व, (9) राग, (10) द्वेष, (11) मोह, (12) शब्द से चिन्ता, (13) रति, (14) निद्रा, (15) विस्मय अर्थात् आश्चर्य, (16) विषाद अर्थात् शोक, (17) स्वेद अर्थात् पसीना, (18) खेद अर्थात् व्याकुलता।

द्यानतराय ने अपने काव्य में परमात्मा को वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी मानकर वर्णन किया है। उन्होंने अरहन्त परमात्मा के स्वरूप में कहा है कि अरहन्त चार घातिकर्मों से रहित हैं। अठारह दोषों से रहित हैं तथा छयालीस गुणों से सहित हैं। समवसरण की शोभा से सहित हैं तथा जिनकी ध्वनि ओंकारमयी है।

(2) द्यानतराय के जगत सम्बन्धी विचार – विश्व, लोक, जगत – ये तीनों जगत के पर्याय शब्द हैं। विभिन्न दर्शनों में जगत के विभिन्न स्वरूप बताये गये हैं। जैनदर्शन में छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहा गया

है। वे छह द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल हैं। इन छहों द्रव्यों का संयोग ही विश्व कहलाता है। चराचर जगत इन छहों द्रव्यों का ही प्रतिरूप है। इस जगत की बनावट ऊँचाई, लम्बाई आदि का करणानुयोग गर्भित अध्ययन कवि द्यानतरायजी की 'चरचाशतक' में मिलता है।

कवि द्यानतराय ने ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक के प्रकार से तीन लोक बताये हैं एवं तीनों लोकों को ही जगत या संसार कहते हैं।

तीन लोक का स्वरूप बताते हुए वे लिखते हैं –

पूरब पश्चिम सात नर्क तलै राजू सात,
आगै धरा मध्यलोक राजू एक रहा है,
ऊँचैं बढ़ि गया ब्रह्मलोक राजू पाँच भया,
आगै घटा अंत एक राजू सरदहा है।
दच्छिन उत्तर आदि मध्य अंत राजू सात
ऊँचा चौदह राजू षट् द्रव्य भरा लहा है।
असंख्यात परदेश मूरतीक कियो भेस,
करै धरै हरै कौन स्वयं सिद्ध कहा है।।[80]

अर्थात् सातवें नरक के नीचे (जहाँ कि त्रस जीव नहीं हैं – निगोदिया जीव भरे हैं) इस लोक की चौड़ाई पूर्व से पश्चिम तक सात राजू है। उससे ऊपर क्रम से घटता गया है, सो मध्यलोक में सुदर्शन मेरु की जड़ में केवल एक राजू चौड़ा रह गया है। आगे फिर विस्तार हो गया है, सो ब्रह्म स्वर्ग के अन्त में पाँच राजू होकर फिर घटने लगा है और अन्त में सिद्धालय के ऊपर फिर एक राजू रह गया है। यह जगत की पूर्व से लेकर पश्चिम तक चौड़ाई बतलाई गई है। अब उत्तर–दक्षिण की मोटाई बतलाते हैं। आदि, मध्य और अन्त में सब जगह अर्थात् मूल से लेकर लोक शिखर के अन्त तक सर्वत्र सात राजू मोटाई है और ऊँचाई आदि से अन्त तक की चौदह राजू है। इस लोक में जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य भरे हुए हैं। उसके असंख्यात प्रदेश हैं। इसको न कोई बनाता है, न कोई धारण करता है और न कोई संहार करता है।

(क) संसार की असारता– कवि द्यानतराय ने भी कबीर, सूरदास आदि भक्त कवियों की तरह संसार को क्षणभंगुर एवं असार बताया है।

जैसा कि उन्होंने एक पद में लिखा है –

प्रानी ये संसार असार है, गर्व न कर मन माहिं।। टेक।।
जे जे उपजे भूमि पै, जम सो छूटे नाहिं।। प्रानी।।
इन्द्र महाजोधा बली, जीत्यो रावण राय।
लक्ष्मण ने रावण हत्यो, जम गयो लक्ष्मण खाय।। प्रानी।।
कंस जरासिन्ध सूरमा, मारे कृष्ण गुपाल।
ताको जरहकुमार ने, मार्‍यो सो ऊकाल।। प्रानी।।[81]

इसी तरह एक पद में संसार के झूठेपन का वर्णन करते हुए द्यानतराय ने पुण्य–पाप दोनों को संसार का कारण बताया है और संसार से विरक्ति की भावना को व्यक्त किया है –

हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्यवहारा।। टेक।।
तन सम्बन्धी सब परिवारा, सो तन हमने जाना न्यारा।।
पुण्य उदय सुख का बढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा।
पुण्य–पाप दोऊ संसारा, मैं सब देखन जाननहारा।।
मैं तिहुँ जग तिहुँ काल अकेला, परसंयोग भया बहुमेला।
थिति पूरी कर खिर–खिर जाहीं, मेरे हर्ष–शोक कछु नाहीं।
रागभाव ते सज्जन माने, द्वेषभाव ते दुर्जन जाने।
राग–द्वेष दोऊ मम नाहीं, द्यानत मैं चेतन पद माहीं।।[82]

इसी प्रकार के भाव निम्न पद में भी द्यानतराय ने व्यक्त किये हैं –

मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार है रे।।
जो देही वह रस सौं पोषै, सो नहिं संग चलै रे,
औरन कौं तोहि कौन भरोसौ, नाहक मोह करै रे।। मिथ्या।।
सुख की बातैं बूझै नाहिं, दुख कौं सुख लेखै रे।
मूढौ माहीं माता डोलै, साधौ नाल डरै रे।। मिथ्या।।
झूठ कमाता झूठी खाता, झूठी जाप जपै रे।
सच्चा साँई सूझै नाहिं, क्यौ कर पार लगै रे।। मिथ्या।।
जम सौं डरता फूला फिरता, करता मैं मैं मैरे।
द्यानत स्याना सोई जाना, जो जप ध्यान धरै रे।। मिथ्या।।[83]

दुनिया को मतलबी बताते हुए द्यानतराय लिखते हैं –

दुनिया मतलब की गरजी अब मोहे जान पड़ी।
हरा वृक्ष पे पंछी बैठा रटता नाम हरी।

प्रात भये पंछी उड़ चलै जग की रीति खरी।।1।।
जब लग बैल वहे बनिया को तब लग चाह धनी।
थकैं बैल को कोई न पूछै फिरता गली–गली।।2।।
सत्त बाँध सती उठ चाली मोह के फंद पड़ी।
द्यानत कहे प्रभू नहीं सुमर्‍यो मुर्दा संग जली।।3।।[84]

संसार को झूठा बताते हुए कहते हैं –

झूठा सुपना यह संसार। दीसत है विनसत ही हौ वार।।
मेरा घर सब तैं सिरदार। रहै न सकै पल एक मँझार।। झूठा।।
मेरे धन सम्पत्ति अतिसार। छाँडि चलै लागै न अवार।। झूठा।।
इन्द्री विषै दिषै फल धार। मीठे लगैं अंत खयकार।। झूठा।।
मेरी देह काम उनहार। सो तन भयौ छिनक में छार।। झूठा।।
जननी तात भ्राता सुत नारि। स्वारथ विना करत है धार।। झूठा।।
भाई सत्रु हौहिं अनिवार। सत्रु भइ भाई बहु प्यार।। झूठा।।
द्यानत सुमरन भजन अधार। आगि लगे कछु लेहु निकार।। झूठा।।[85]

(3) द्यानतराय के कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी विचार –

जैन सिद्धान्त में कर्म आठ प्रकार के माने गये हैं, जिनके उत्तर भेद 148 हैं, जो निम्न प्रकार हैं –(1) ज्ञानावरण कर्म (2) दर्शनावरण कर्म (3) वेदनीय कर्म (4) मोहनीय कर्म (5) आयुकर्म (6) नामकर्म (7) गोत्रकर्म तथा (8) अन्तराय कर्म। कुल जोड़ उत्तर भेदों का योग 148 निम्न है –

(1) ज्ञानावरण कर्म 5 प्रकार के होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

1. **मतिज्ञानावरण** – जिसके द्वारा मतिज्ञान ढका जावे।
2. **श्रुतज्ञानावरण** – जिसके द्वारा श्रुतज्ञान ढका जावे।
3. **अवधिज्ञानावरण** – जो अवधिज्ञान को ढके (आवरण करे)।
4. **मनःपर्ययज्ञानावरण** – जो मनःपर्ययज्ञान का आवरण करे।
5. **केवलज्ञानावरण** – जो केवलज्ञान को आवरण करे।

(2) दर्शनावरण – यह 9 प्रकार का है, जो जीव के दर्शन को आवरण करता है –

1. **चक्षुदर्शनावरण**– यह चक्षुओं से दर्शन नहीं होने देता।
2. **अचक्षुदर्शनावरण**– जो चक्षु के अलावा अन्य इन्द्रियों से दर्शन नहीं होने देता।

3. अवधि दर्शनावरण– अवधिदर्शन द्वारा दर्शन नहीं होने देता।

4. केवल दर्शनावरण– जो केवलदर्शन का आवरण करे।

5. स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण– जो निद्रा में अपना प्रकाश करे अर्थात् जिसके उदय होने पर यह जीव नींद में ही बहुत पराक्रम का कार्य करे, परन्तु भान नहीं रहे कि क्या किया।

6. निद्रा–निद्रा दर्शनावरण कर्म– जिसके द्वारा निद्रा की पुनः पुनः प्रवृत्ति हो अर्थात् जिससे आँखों की पलक भी नहीं उघाड़ सके।

7. प्रचला–प्रचला दर्शनावरण कर्म– जो कर्म के उदय से जीव को बार–बार सुलावे।

8. प्रचला दर्शनावरण– जिस निद्रा में कुछ कार्य करे, जिसको याद भी करे।

9. निद्रा दर्शनावरण– जिसके उदय में मद–खेद आदि दूर करने के लिए केवल सोना हो।

(3) वेदनीय कर्म– इष्टानिष्ट बाह्य विषयों का या भोगों का संयोग–वियोग करनेवाला वेदनीय कर्म है। यह दो प्रकार का है –

1. सातावेदनीय कर्म– जो उदय में आकर जीव को देवगति आदि में शारीरिक व मानसिक सुखों का अनुभव करावे, साता का भोग करावे।

2. असातावेदनीय कर्म– जिसके उदय का फल अनेक प्रकार के नरकादिक गति जन्य दुःखों के भोग का अनुभव है।

(4) मोहनीय कर्म– ये दो प्रकार के होते हैं –

1. दर्शन मोहनीय– जो दर्शन द्वारा मोहित करे–ठगे।

2. चारित्र मोहनीय– जो चारित्र को मोहित करे–ठगे।

(5) आयु कर्म– आयु कर्म चार प्रकार का हैं –

1. तिर्यंच आयु– जो आत्मा को तिर्यंच शरीर में प्राप्त करे या रोके।

2. मनुष्य आयु– जो आत्मा को मनुष्य शरीर में प्राप्त करे या रोके।

3. देव आयु– जो आत्मा को देव आयु के शरीर में प्राप्त करे या रोके।

4. नरक आयु– जो आत्मा को नारकी शरीर में प्राप्त करे या रोके।

(6) नामकर्म– नामकर्म के 93 भेद हैं, जो निम्नलिखित हैं –

1. गति नामकर्म – 4

नरकगति नामकर्म, तिर्यंचगति नामकर्म, मनुष्यगति नामकर्म, देवगति नामकर्म

2. जाति नामकर्म – 5

एकेन्द्रियजाति नामकर्म, दो इन्द्रियजाति नामकर्म, तीन इन्द्रियजाति नामकर्म, चतुरेन्द्रियजाति नामकर्म, पंचेन्द्रियजाति नामकर्म

3. शरीर नामकर्म – 5

औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारक शरीर नामकर्म, तैजस शरीर नामकर्म, कार्माण शरीर नामकर्म

4. बन्धन नामकर्म – 5

औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म, वैक्रियिक शरीर बन्धन नामकर्म, आहारक शरीर बन्धन नामकर्म, तैजस शरीर बन्धन नामकर्म, कार्माण शरीर बन्धन नामकर्म

5. संघात नामकर्म – 5

औदारिक संघात नामकर्म, वैक्रियिक संघात नामकर्म, आहारक संघात नामकर्म, तैजस संघात नामकर्म, कार्माण संघात नामकर्म

6. संस्थान नामकर्म – 6

समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, बामन संस्थान, हुंडक संस्थान

7. आंगोपांग नामकर्म – 3

औदारिक आंगोपांग, वैक्रियिक आंगोपांग, आहारक आंगोपांग

8. संहनन नामकर्म – 6

वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन
अर्धनाराच संहनन, कीलित संहनन, असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन

9. वर्ण नामकर्म – 5

कृष्णवर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, पीतवर्ण नामकर्म, रक्तवर्ण नामकर्म, श्वेतवर्ण नामकर्म

10. गन्ध नामकर्म – 2

1. सुरभिगन्ध नामकर्म 2. असुरभिगंध नामकर्म

11. रस नामकर्म – 5

1. नामकर्म 2. कडुवा नामकर्म 3. कसैला नामकर्म 4. आम्ल नामकर्म 5. मधुर नामकर्म

12. स्पर्श नामकर्म – 8

1 कर्कश स्पर्श नामकर्म 2 मृदु स्पर्श नामकर्म 3 गुरु स्पर्श नामकर्म 4 लघु स्पर्श नामकर्म 5 शीत स्पर्श नामकर्म 6 उष्ण स्पर्श नामकर्म 7 स्निग्ध स्पर्श नामकर्म 8 रूक्ष स्पर्श नामकर्म

13. आनुपूर्वी नामकर्म – 4

1 नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म 2 तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म 3 मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म 4 देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म

शेष–अगुरुलघु नामकर्म, उपघात नामकर्म, उच्छवास नामकर्म, आतप नामकर्म, उघोत नामकर्म, विहायोगति नामकर्म, त्रस नामकर्म, बादर नामकर्म, पर्याप्ति नामकर्म, प्रत्येक शरीर नामकर्म, स्थिर नामकर्म, शुभ नामकर्म, सुभग नामकर्म, सुस्वर नामकर्म, तीर्थंकर नामकर्म, स्थावर नामकर्म, सूक्ष्म नामकर्म, अपर्याप्ति नामकर्म, साधारण नामकर्म, अस्थिर नामकर्म, अशुभ नामकर्म, दुर्भग नामकर्म, दुःस्वर नामकर्म, अनादेय नामकर्म, अयशःकीर्ति नामकर्म।

(7) गोत्र नामकर्म – 2

1. **उच्चगोत्र**– जिसके उदय से पूजित (मान्य) कुल में जन्म हो।

2. **नीचगोत्र**– जिसके उदय से लोक निन्दित कुल में जन्म हो।

(8) अन्तराय कर्म– यह पाँच प्रकार का है –

1. **दानांतराय**– जिसके उदय से दान देना चाहे, किन्तु दे नहीं सके।

2. **लाभांतराय**– जिसके उदय से लाभ की इच्छा करे, पर लाभ न हो।

3. **भोगांतराय**– जिसके उदय से पुष्पादिक या अन्नादिक भोग की वस्तुएँ भोगना चाहे, किन्तु भोग न सके।

4. **उपभोगांतराय**– जिसके उदय से स्त्री वगैरह उपभोग्य वस्तु का उपभोग न हो सके।

5. **वीर्यान्तराय**– जिसके उदय से अपनी शक्ति (बल) प्रकट करना चाहे, किन्तु प्रगट न हो सके।

अन्तराय कर्म का वर्णन करते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं कि –

देव पै परयौ है पर रूपकौ न ग्यान होय,
जैसे दरबान भू–देखनौ निवारै है।

सहत लपेटी असिधारा सुखदुखकार।
मदिरा ज्यौ जीवन कौ मोहिनी बिधारै है।
काठमै दियौ है पाँव करै धिति कौ सुभाव
चित्रकार नाना नाम चीतकै समारै है।
चक्री ऊँच नीच धरै, भूप दीयौ मनैकरै
एई आठ कर्म हरै सोई हमैं तारै है।।

अर्थ—देव की मूर्ति पर यदि कपड़ा पड़ा हुआ हो तो जिस तरह उसका ज्ञान नहीं होता है—उसका रूप नहीं दिखता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म का परदा पड़ने से आत्मा का ज्ञान गुण ढँक जाता है। जिस तरह दरबान अर्थात् पहरेदार राजा का दर्शन नहीं करने देता है, उसी प्रकार दर्शनावरणी कर्म आत्मा के दर्शनगुण का दर्शन नहीं होने देता है। जिस तरह शहद में लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से मीठी लगती है और साथ ही जीभ को काट डालती है, उसी प्रकार से वेदनीय कर्म आत्मा को सुखी, दुःखी करता है। यह कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण का घात करता है।

जिस तरह शराब जीवों पर मोहनीय का अर्थात् बेहोशी का (बाबलेपन का) विस्तार करती है, उसी प्रकार से मोहनीयकर्म आत्मा को मोहित कर डालता है। इस कर्म के संयोग से जीव पर पदार्थों में इष्ट तथा अनिष्ट की कल्पना करता है और तद्रूप आचरण करता है अर्थात् इससे जीव को सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात होता है।

जिस तरह चोर का पैर काठ में देने से वह काठ उसकी स्थिति करता है—उसको कहीं हिलने—चलने नहीं देता, उसी प्रकार से आयुकर्म जीव की भव—भव में स्थिति करता है।

जब तक एक शरीर की आयु पूरी नहीं हो जाती है, तब तक जीव दूसरे शरीर में नहीं जा सकता है। इससे अवगाह गुण का घात होता है। जिस प्रकार चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाकर उनके जुदा—जुदा नाम रखता है, उसी प्रकार से नामकर्म एकेन्द्रियादि नामवाले शरीर बनाता है। यह कर्म आत्मा के सूक्ष्मत्व गुण का घात करता है। जिस प्रकार कुम्हार ऊँचे—नीचे अर्थात् छोटे—बड़े बर्तन बनाता है, उसी प्रकार से गोत्र कर्म ऊँचे—नीचे कुल में जीव को उत्पन्न करता है और जिस प्रकार भण्डारी राजा को दान करने से रोकता है, उसी प्रकार अन्तरायकर्म दान, लाभ, भोग

और उपभोग में रुकावट करता है। इन आठों कर्मों का जिन्होंने हरण किया है, वे ही हमको तारने में समर्थ हैं।

उपर्युक्त 148 कर्म प्रकृतियों का वर्णन कवि द्यानतराय ने इस प्रकार किया है –

ग्यानावरनी पाँच, दर्सनावरनी नौ विध।
दोय वेदनी जान, मोहिनी आठ बीस निध।।
आव चार परकार, नाम की प्रकृति तिरानौ।
तथा एक सौ तीन, गोत दो भेद प्रमानौ।।
कहि अन्तराय की पाँच सब, सौ अड़तालिस जानिए।
इमि आठ करम अड़तालिसौं, भिन्न रूप निज मानिए।।[86]

कर्मों की 148 प्रकृतियाँ कौन–कौन से गुणस्थान में क्षय (नष्ट) होती हैं, उसके बारे में कवि द्यानतराय लिखते हैं –

सात प्रकृति कौ घात, ठीक सातम गुणथानै।
तीनि आव नहिं होय, नवम छत्तीसौं भानै।।
दसमैं लोभ विदार, बारहैं सोल मिटावै।
चौदहमैं के अन्त, बहत्तर तेर खिपावै।।
इमि तोर करम अड़ताल सौ, मुकति माहिं सुख करत हैं।
प्रभु हमहिं बुलावौ आप ढ़िंग, हमइ पाँयनि परत हैं।।[87]

अर्थ– यह जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, मिश्रमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति – इन सात प्रकृतियों का क्षय चौथे से सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक करता है अर्थात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के इन सात प्रकृतियों की सत्ता सातवें गुणस्थान से आगे नहीं रहती। अप्रमत्त गुणस्थान के दो भेद होते हैं – एक स्वस्थान अप्रमत्त और दूसरा सातिशय अप्रमत्त। सातिशय अप्रमत्त वह कहलाता है, जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होता है।

इस मोक्षगामी जीव के नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु की सत्ता नहीं होती है। नववें गुणस्थान में 36 प्रकृतियों का क्षय करता है, दसवें में सूक्ष्मलोभ को नष्ट करता है, बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणी की 5, दर्शनावरणी की 6 और अन्तराय की 5–इस तरह सब मिलाकर 16 प्रकृतियों का क्षय करता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त में जब दो समय रह जाते हैं तब पहले समय में 72 और दूसरे समय में 13 प्रकृतियों को खिपाता है। इस

तरह सब मिलाकर 148 कर्मों के जाल को तोड़कर जीव मुक्त हो जाता है और वहाँ अनन्त सुखों को भोगता है।

हे प्रभु! मैं आपके पैरों में पड़ता हूँ, आप मुझे अपने समीप बुला लेवें अर्थात् अपने समान मुझे भी कर्मों से रहित कर देवें।

आठों कर्मों का नाश कर परमपद सिद्धपद पाने के लिए कवि द्यानतराय अपने एक पद में लिखते हैं –

मैं निज आतम कब ध्याऊँगा।। टेक।।
रागादिक परिनाम त्यागकै, समतासौ लौ लाऊँगा।। मैं।।
मन–वच–काय जोग थिर करकै, ज्ञान समाधि लगाऊँगा।
कब हौ क्षिपक श्रेणि चढ़ि ध्याऊँ, चारित मोह नशाऊँगा।। मैं।।
चारों करम घातिया खन करि, परमात्म पद पाऊँगा।
ज्ञान दरश सुख बल भण्डारा, चार अघाति नशाऊँगा।। मैं।।
परम निरंजन सिद्ध शुद्धपद परमानंद कहाऊँगा।
'द्यानत' यह सम्पत्ति जब पाऊँ, बहुरि न जग में जाऊँगा।। मैं।।[88]

इस प्रकार द्यानतरायजी ने जैनोक्त कर्म एवं कर्म प्रकृतियों का वर्णन रोचक ढंग से किया है। यद्यपि कर्म एवं कर्म प्रकृतियों का विषय कठिन हैं, किन्तु उनकी पद्य रचना से कर्मों का स्वरूप सरल और सुगम हो गया है।

(4) द्यानतराय के मोक्ष सम्बन्धी विचार –

मोक्ष के स्वरूप के बारे में आचार्य उमास्वामी लिखते हैं –

'बन्धहेत्वभाव–निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः।'[89]

अर्थात् आत्मा का कर्मबन्धन से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। यह भी दो प्रकार का होता है– द्रव्यमोक्ष और भाव मोक्ष। आत्मा के जो शुद्धभाव कर्मबन्धन से मुक्त होने में हेतु होते हैं, वे भाव ही भावमोक्ष है और आत्मा का द्रव्यकर्मों से मुक्त हो जाना द्रव्यमोक्ष है और आत्मा का सिद्धालय में जाकर सिद्ध दशा पाना ही मोक्ष है। वह मोक्ष अनन्त आनन्द स्वरूप एवं निराकुल सुखरूप है, जिसे इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के बारे में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं –

'स्वर्ग विषै सुख है, तिनितैं अनन्त गुणाँ मोक्ष विषैं सुख है। सो इस

गुणकार विषैं स्वर्ग–मोक्ष–सुख की एक जाति जाने है। तहाँ स्वर्ग विषैं तो विषयादि सामग्रीजनित सुख हो, ताकि जाति याकौं भासे है, अर मोक्ष विषैं–विषयादि सामग्री है नाहीं, सो वहाँ का सुख की जाति याकौं भासै तौ नाहीं, परन्तु स्वर्ग तैं भी मोक्ष कौं उत्तम, महापुरुष कहै हैं, तातैं यहु भी उत्तम ही मानै है। जैसे कोऊ गान का स्वरूप न पहिचानै, परन्तु सर्व सभा कै सराहैं, तातैं आप भी सराहै है। तैसे यहु मोक्ष कौं उत्तम माने है।'[90]

कविवर बनारसीदासजी लिखते हैं कि –

थिति पूरन करि जो करम, खिरै बंधपद भानि।
हस अस उज्ज्वल को, मोक्ष तत्त्व सो जानि।।[91]

मोक्षसुख को बताते हुए कवि द्यानतराय लिखते हैं कि –

करै करम की निरजरा, भव पींजरा विनाशि।
अजर अमर पद को लहै, द्यानत सुख की राशि।।[92]

अर्थात् जो व्यक्ति कर्मों की निर्जरा कर भवरूपी पिंजड़े का नाश करता है, वह अजर–अमर पद को अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

द्यानतराय भी अन्य भारतीय दर्शनों की तरह मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। मोक्ष बन्धन का प्रतिलोम है; जीव और पुद्गल का संयोग बन्ध है; इसलिए इसके विपरीत जीव का पुद्गल से वियोग ही मोक्ष है। द्यानतराय के अनुसार मोक्षावस्था में जीव का पुद्गल से पृथक्करण हो जाता है। वे कहते हैं कि बन्धन का कारण पुद्गल के कणों का जीव की ओर प्रवाहित होना है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक नये पुद्गल के कणों को आत्मा की ओर प्रवाहित होने से रोका न जाए; परन्तु सिर्फ नये पुद्गल के कणों को आत्मा की ओर प्रवाहित होने से रोकना ही मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं है। जीव में कुछ पुद्गल के कण अपना घर बना चुके हैं। अतः ऐसे पुद्गल के कणों का उन्मूलन भी परमावश्यक है। नये पुद्गल के कणों को जीव की ओर प्रवाहित होने से रोकना संवर कहा जाता है। पुराने पुद्गल के कणों का क्षय 'निर्जरा' कहा जाता है। इस प्रकार आगामी पुद्गल के कणों को रोककर तथा सचित्त पुद्गल के कणों को नष्ट कर जीव कर्म–पुद्गल से छुटकारा पा जाता है। कर्म पुद्गल से मुक्त हो जाने पर जीव वस्तुतः मुक्त हो जाता है।

द्यानतराय कहते हैं कि जो उपर्युक्त विधिपूर्वक कर्मों का नाश करके सिद्ध बन जाता है, वह पुनः संसार में नहीं आता है। जैसा कि –

परम निरंजन सिद्ध शुद्ध पद, परमानन्द कहाऊँगा।
द्यानत यह सम्पत्ति जब पाऊँ, बहुरि न जग में आऊँगा।।[93]

द्यानतराय के अनुसार बन्धन का मूल कारण क्रोध, मान, लोभ और माया है। इन कुप्रवृत्तियों का कारण अज्ञान है। अज्ञान का नाश ज्ञान से ही सम्भव है। इसलिए जैनदर्शन में मोक्ष के लिये सम्यग्ज्ञान को आवश्यक माना गया है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति पथ–प्रदर्शक गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास से ही सम्भव है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को अपनाने से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए मानव को अपनी वासना, इन्द्रिय और मन को संयत करना परमावश्यक है। इसी को सम्यग्चारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि –

सम्यक् दरशन ज्ञान व्रत, शिव–मग–तीनों मयी।
पार उतारन यान, द्यानत पूजो व्रत सहित।। [94]

अर्थात् मोक्षानुभूति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों को आवश्यक माना गया है। मोक्ष की प्राप्ति न सिर्फ सम्यग्ज्ञान से सम्भव है और न सिर्फ सम्यग्दर्शन से सम्भव है और न ही सिर्फ सम्यक्चारित्र ही मोक्ष के लिए पर्याप्त है। मोक्ष की प्राप्ति तीनों के सम्मिलित सहयोग से ही सम्भव है। आचार्य उमास्वामी के ये कथन इसके प्रमाण हैं –

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः।[95]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को त्रिरत्न के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यही मोक्ष का मार्ग है।

भारत के अधिकांश दर्शनों में मोक्ष के लिए इन तीन मार्गों में से किसी एक को आवश्यक माना गया है। कुछ दर्शनों में मोक्ष के लिए सिर्फ सम्यग्ज्ञान को पर्याप्त माना गया है। कुछ अन्य दर्शनों में मोक्ष के लिए सिर्फ सम्यग्दर्शन को ही माना गया है।

भारत में कुछ ऐसे भी दर्शन हैं, जहाँ मोक्षमार्ग के रूप में सम्यक्चारित्र को अपनाया गया है। जैनदर्शन की यह खूबी रही है कि उसने तीनों एकांकी मार्गों का समन्वय किया है। इस दृष्टिकोण से जैनमत का मोक्षमार्ग अद्वितीय कहा जा सकता है। साधारणतः त्रिमार्ग की महत्ता को प्रमाणित

करने के लिए रोगग्रस्त व्यक्ति की उपमा का व्यवहार किया जाता है। एक रोग ग्रस्त व्यक्ति को जो रोग से मुक्त होना चाहता है, चिकित्सक के प्रति आस्था रखनी चाहिए, उसके द्वारा दी गयी दवाओं का ज्ञान होना चाहिए और चिकित्सक के मतानुसार आचरण भी करना चाहिए। इस प्रकार सफलता (मोक्ष) के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सम्मिलित प्रयोग आवश्यक है।

अब, तीनों की व्याख्या एक–एक कर अपेक्षित है –

(1) सम्यग्दर्शन– सात तत्त्वों के प्रति श्रद्धा की भावना को रखना 'सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। जैसा कि द्यानतराय ने लिखा है –

आप आप निहचै लखौ, तत्त्व प्रीति व्योहार।
रहित दोष पच्चीस हैं, सहित अष्ट गुन सार।।[96]

(2) सम्यग्ज्ञान– तत्त्वों का यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जीव और अजीव के अन्तर को न समझने के फलस्वरूप बन्धन का प्रादुर्भाव होता है, जिसे रोकने के लिए ज्ञान आवश्यक है।

सम्यग्ज्ञान के स्वरूप को बताते हुए द्यानतराय लिखते हैं कि –

पंच भेद जाके प्रगट, ज्ञेय–प्रकाशनमान।
मोह–तपन–हर–चन्द्रमा, सोई सम्यग्ज्ञान।।[97]

(3) सम्यक्चारित्र– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक किया जानेवाला सदाचरण सम्यक्चारित्र कहलाता है।

द्यानतराय सम्यक्चारित्र की महिमा गाते हुए कहते हैं कि –

सम्यक्चारित्र रतन सँभालौ, पाँच पाप तजि के व्रत पालौ।
पंच समिति त्रय गुपति गहीजै, नर भव सफल करहु तन छीजै।।[98]

इस प्रकार द्यानतरायजी ने अपने काव्य के माध्यम से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग बतलाकर कहा कि मोक्ष के लिए इन तीनों की परम आवश्यकता है।

(5) द्यानतराय के काव्य में मनुष्य जन्म की दुर्लभता पर विचार –

मनुष्य भव को सभी दर्शनों ने दुर्लभ बताया है। दौलतरामजी ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता पर अपने विचार इस प्रकार दिए हैं –

दुर्लभ लहि ज्यों चिंतामणि, त्यौ पर्याय लही त्रसतणी।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धर–धर–मर्यो सही बहु पीर।।[99]

अर्थात् जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस जीव ने त्रस की पर्याय बड़ी कठिनता से प्राप्त की; उस त्रस पर्याय में भी लट (इल्ली) आदि दो इन्द्रिय जीव, चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव और भँवरा आदि चार इन्द्रिय जीव के शरीर धारण करके मरा और अनेक दुःख सहन किये।

इसी तरह के विचार दौलतरामजी ने तीसरी ढाल में भी व्यक्त किये हैं –

दौल 'समझ' सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।।[100]

मनुष्यभव को दुर्लभ बताते हुए धर्मधारण करने को प्रेरित करते हुए कवि द्यानतराय कहते हैं कि –

रे जिय नरभव पाया, कुल जाति विमल तू आया।
जो जैनधर्म नहिं धारा, सब लाभ विषयसंग हारा।।
लखि बात हृदय गह लीजे, जिनकथित धर्म नित कीजे।
भव दुःख सागर को तरिये, सुख से नव का ज्यों बरिये।
ले सुधि न विषय रस भरिया, भ्रम मोह ने मोहित करिया।।
विधि ने जब दई घुमरिया, तब नरक भूमि ते परिया।
अब नर कर धर्म अगाऊ, जब लों धन यौवन चाऊ।।
जब लो नहिं रोग सतावै, तोहि काल न आवन न पावै।[101]

उपर्युक्त पद में द्यानतराय जी कहते हैं कि मनुष्य भव चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ है। जिस प्रकार अन्धे के हाथ बटेर लग जाये, किन्तु वह उसे व्यर्थ ही गँवा देता है। कभी यह जीव नरकगति में तो कभी तिर्यंच गति में, तो कभी स्वर्ग में जाता है। इस संसार में घूमता हुआ दुर्लभता से नरभव पाता है। मनुष्य भव प्राप्त कर व्यर्थ गँवाना उसी प्रकार है, जैसे अमृत मिलने पर उसे पाँव धोने में प्रयोग करना। द्यानतरायजी अन्त में उपदेश देते हैं कि यदि तुम भवसागर से पार होना चाहते हो तो विषय–कषाय को छोड़ दो।

इसी से सम्बन्धित भावों को निम्न पद में भी दर्शाया है।

राग–सोरठ

ग्यान बिना सुख पाया रे भाई।
भौ दस आठउ श्वास सास मैं, साधारन लपटाया रे।। भाई।।
काल अनन्त यहाँ तोहि बीते, जब भई मंद कषाया रे।।

तब तू निकसि निगोद सिंधु तैं, थावर होय न सारा रे।।भाई।।

क्रम क्रम निकसि भयौ विकलत्रै, जो दुख जात न गाया रे।।
भूख प्यास परवस सही पशुगति बार अनेक विकाया रे।।भाई।।

नरक माहि छेदन भेदन बहु पुतरी अगनि जलाया रे
सीत तपत दुरगध रोग दुःख जानै श्री जिनराया रे।।भाई।।

भ्रमत भ्रमत संसार महावन कबहुँ देव कहाया रे।।
लखि पर विभव, सहयौ दुख भारी, मरन समै विललाया रे।।भाई।।

पाप नरक पशु पुण्य सुरग वसि, काल अनन्त गमाया रे।।
पाप पुण्य जब भए बराबर तब कहुँ नर भौ जाया रे।।भाई।।

नीच भयौ फिरि गरभ पड्यौ, फिरि जनमत काल सताया रे।।
तरुन पनौ तू धरम न चेतौ तन धन सुत लौ लाया रे।।भाई।।

दरब लिंग धरि–धरि मरि–मरि तू फिरि फिर जग भज आया रे।
द्यानत सरधा जु गहि मुनिव्रत अमर होय तजि काया रे।।भाई।।[102]

मनुष्य जन्म होने के समय के दुःखों का वर्णन करते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं –

कहा देखि गरवाना रे भाई।।
गहि अनन्त भवतैं दुख पायो, सो नहि जात बखाना रे।।भाई।।
माता रुधिर पिता को वीरज, तातै तू उपजाना रे।।
गरभवास नौ मास सहे दुख, तल सिर पाउ उचाना रे।।भाई।।
मास आहार विगल मुख निगल्यौ सो तू असन गहाना रे।।
जती तार सुनार निकाले, सो दुख जनम सहाना रे।।भाई।।
आठ पहर तन–मल–भल धौयौ, पोख्यौं रैंन विहाना रे।।
सो शरीर तेरे संग चल्यौ नहिं, खिन मैं खाक समाना रे।।भाई।।
जनमत नारी बांटत जोवन समरथ दरव नसाना रे।।
सो सुत तू अपनौ करि जानै, अन्त जलावै प्राण रे।।भाई।।
देखत चित्त गिलाय हरैं धन मैथुन प्राण पलाना रे।।
सो नारी तेरी है कैसे मूये प्रेत प्रवानां रे।।भाई।।
पाँच चोर तेरे अन्दर बैठे। तै पाना मित्राना रे।।
खाइ जीव धन ग्यान लटकै, दोष तेरे सिर ठाना रे।।भाई।।

देव धरम गुरु रतन अमोलक कर अन्तर सरधाना रे।।
द्यानत ब्रह्म ज्ञान अनुभौ करि, जो चाहै कल्याना रे।।भाई।।[103]

जिनेन्द्र का नाम स्मरण नहीं करने व विषय कषायों में लगे रहने पर संसारी जीव को फटकार लगाते हुए द्यानतराय कहते हैं –

राग सोरठा

जिन नाम समुरि मन बावरे, कहा दूत उत भटके।
विषय प्रगट विष बेल है इनमें मत अटके।
दुरलभ नरभव पाय के नगसो मत भटकै।
फिर पीछे पछताएगा, अवसर जब सटकै।।निज।।

एक घड़ी है सफल जौ प्रभु गुण रस गटके।
कोटि वरष जीवो वृथा जो थोथा फटकैं।।निज।।
द्यानत उत्तम भजन है कीजै मन रटकै।
भव–भव के पातक सबैं जैहे तो कटकैं।।निज।।[104]

इस प्रकार द्यानतरायजी ने अपने आध्यात्मिक पदों के द्वारा संसारी प्राणियों को मनुष्य भव की महत्ता बताकर येन–केन प्रकारेण अपनी आत्मा को जानकर राग–द्वेष–मोह भावों का अभाव पर नर से नारायण बनने का मार्ग बताया है।

6. द्यानतराय के राग–द्वेष–मोह तथा कषाय की बाधकता पर विचार –

तीनों लोक के जीव राग–द्वेष–मोह भावों के कारण ही विभाव भावरूप परिणमन कर दुःखी रहते हैं। राग–द्वेष–मोह भाव जीव के शुद्धस्वरूप के निकट नहीं आने देते। ये राग–द्वेष–मोह परिणाम भाव दुःखदायी हैं, दुःखस्वरूप हैं। जैसा कि कहा है कि –

आत्मा को राग–द्वेष और मदादि जो कुछ विकार हैं, विभाव परिणमन हैं, वे सब मेघजन्य सूर्य के विकारों की तरह कर्मजनित हैं।[105]

द्यानतराय ने भी राग–द्वेष–मोह भावों पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं –

राग–विहागडी

जानत क्यों नहिं रे, हे नर आतम ज्ञानी।
राग द्वेष पुद्गल की संगति, निहचै शुद्ध निशानी।।जानत।।
जाय नरक पशु नर सुर गति में, ये परजाय विरानी।।
सिद्ध स्वरूप सदा अविनाशी, जानत विरला प्रानी।।जानत।।

किये न काहू हरै न कोई, गुरु शिख कौन कहानी।।
जनम–मरन मल रहित अमल है, कीच बिना ज्यों पानी।।जानत।।
सार पदारथ है तिहुँ जग में, नहिं क्रोधी नहिं मानी।।
द्यानत सौ घट माहिं विराजै, लख दूजै शिवथानी।।जानत।।[106]

राग–द्वेष को जगत में बन्ध कराने वाला बताते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं कि –

अब हम अमर भये न मरेंगे।। टेक।।
तन कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे।
उपजै मरै काल ते प्रानी, तातें काल हरैंगे।
राग द्वेष जगबन्ध करत हैं, इनको नाश करैंगे।
देह विनाशी मैं अविनाशी भेदज्ञान कहैंगे।
नासी जासी हम थिर वासी, चोखे हो निखरैंगे।।
मरे अनन्तबार बिन समझे, अब सुख दुख विसरैंगे।
द्यानत निपट निकट हो अक्षर, बिन सुमरे सुमरैंगे।।[107]

राग–द्वेष दोनों को जीव के स्वभाव से पृथक् बताते हुए वे लिखते हैं कि –

राग भाव ते सज्जन माने, द्वेषभाव तें दुर्जन जाने।
रागद्वेष दोऊ मम नाहीं, द्यानत मैं चेतन पद माहीं।

तत्त्वसार में शिष्य द्वारा पूछे जाने पर कि यह जीव पर समयरत होता हुआ क्या–क्या करता है?

इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप निम्न पद लिखते हैं –

देखै सो चेतन नहीं, चेतन देखौ नाहिं।
राग दोष किहिसौं करौ, हौं मैं समतामाहिं।। 36।।[108]

अर्थात् मूढ़ बहिरात्मा अज्ञानी पुरुष नित्य सर्वकाल रात–दिन किसी अनिष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्य में रुष्ट होता है अर्थात् द्वेष करता है और किसी इष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्य में सन्तुष्ट होता है अर्थात् प्रसन्न होकर राग करता है।

द्यानतरायजी ने राग–द्वेष को पुद्गल का बताकर उसे चेतन से भिन्न बताया है। जैसा कि वे लिखते हैं –

जानत क्यों नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी।।टेक।।
रागद्वोष पुद्गल की संगात, निहचै शुद्धनिशानी।।जानत।।

जाय नरग पशु नर सुर गति में, ये परजाय विरानी।
सिद्ध–स्वरूप सदा अविनाशी, जानत विरला प्रानी।
कियो न काहू हरै न कोई, गुरु शिख कौन कहानी।
जनम–मरन–मलरहित अमल है, कीच बिना ज्यों पानी।।
सार पदारथ है तिहुँ जगमें, नहिं क्रोधी नहिं मानी।
द्यानत सो घटमाहिं विराजै, लख दूजै शिवधानी।। जानत।।[109]

जब निश्चय शुद्ध आत्मा के दर्शन हो जाते हैं तो राग–द्वेष–मोह भाव नष्ट हो जाते हैं। उस समय अखण्ड आत्मज्योति का साक्षात्कार होता है। फलस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द की धारा प्रवाहित हो जाती है। इन्द्री भावों को द्यानतरायजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है।

अब हम आतम को पहिचान्यौ।। टेक।।
जब ही सेती मोह सुभट बल, छिनक एक में भान्यौ।। अब।।
राग विरोध विभाव भजे झर, ममता भव पलान्यौ।
दरसन ज्ञान चरन में, चेतन भेद रहित परवान्यौ।। अब।।
जिहि देखै हम और न देख्यो, देख्यो सो सरधान्यौ।
ताकौ कहो कहैं कैसै करि, जा जाने जिम जान्यौ।। अब।।
पूरब भाव सुपनवत् देखो, अपनो अनुभव तान्यौ।
द्यानत ता अनुभव स्वादत ही, जनम सफल करि मान्यौ।। अब।।[110]

शुद्धभाव का आश्रय लेकर अपने निज प्रभु परमात्मा को प्राप्त करने को प्रेरित करते हुए वे लिखते हैं कि –

शुद्ध आतमा निहारि राग–दोष मोह टारि।
क्रोध मान बंक गारि लोभ भाव भानुरे।
पापपुन्य कौ विहारि, सुद्धभाव कौ सँभारि।
मर्मभाव कौं विसारि, पर्मभाव आनुरे।।
चर्मदृष्टि ताहि जारि सुद्धदृष्टिकौं पसारि।
देहनेह कौं निवारि सेतध्यान ठानुरे।
जागि जागि सैन छारि भव्य मोख कौं विहार,
एक वारके कहे हजार वार जानु रे।।[111]

शुद्धात्मा के अनुभव में राग–द्वेष–मोह के साथ–साथ कषायें भी बाधक हैं। कषाय अर्थात् जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे, उसे कषाय कहते हैं।

कषाय के चार भेद हैं – (1) क्रोध, (2) मान (3) माया (4) लोभ। इसके अवान्तर भेद 25 हैं, जो निम्न हैं –

(1) अनन्तानुबन्धी क्रोध (2) अप्रत्याख्यान क्रोध (3) प्रत्याख्यान क्रोध (4) संज्वलन क्रोध (5) अनन्तानुबन्धी मान (6) अप्रत्याख्यान मान (7) प्रत्याख्यान मान (8) संज्वलन मान (9) अनन्तानुबन्धी माया (10) अप्रत्याख्यान माया (11) प्रत्याख्यान माया (12) संज्वलन माया (13) अनन्तानुबन्धी लोभ (14) अप्रत्याख्यान लोभ (15) प्रत्याख्यान लोभ (16) संज्वलन लोभ (17) हास्य (18) रति (19) अरति (20) शोक (21) भय (22) जुगुप्सा (23) स्त्रीवेद (24) पुरुषवेद (25) नपुंसकवेद

उपर्युक्त कषाय भावों से ही जीव अपने शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं कर पाता है। इन्हीं कषायों को आत्मानुभव में बाधक बताते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं –

तू तो समझ समझ रे भाई।
निशदिन विषय भोग लिपटाता धरम वचन ना सुहाई।
कर मनका ले आसन मांड्यो बाहिर लोक रिझाई।
कहा भयो वक ध्यान धरे तैं जो मन थिर ना रहाई।।
मास मास उपवास किये तै काया बहुत सुखाई।
क्रोध मान छल लोभ न जीत्यो कारज कौन सराई।
मन वच काय जोग थिर करके त्यागो विषय कषाई।
द्यानत स्वर्ग मोक्ष सुखदाई सत् गुरु सीख बताई।।[112]

द्यानतराय आत्मा को क्रोध, मान, माया, लोभ से पृथक् बताते हुए लिखते हैं –

क्रोध मान माया नहिं लोभ, लेस्या सल्य जहाँ नहिं सोभ।
जन्म जरा मृतुधौ नहिं लेस, सो मैं सुद्ध निरंजन भेस।। 19।।[113]

अर्थात् जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है न कोई लेश्या है और न जन्म, न जरा और मरण भी है; वही निरंजन मैं कहा गया हूँ।

सुबोधपंचासिका में क्रोध कषाय को त्यागने की बात बताते हुए कहते हैं कि –

क्रोध लोभ विषयन तजो, सुन भाई रे।
कोटि कटे अघजाल, चेतन सुन भाई रे।।[114]

कषायभावों के अभावपूर्वक ही सुख की प्राप्ति होती है। इसको बताते हुए कहते हैं कि –

राग रोष संकल्प है, नय के भेद विकल्प।
रोष भाव मिट जाय जब, तब सुख होय अनल्प।।28।।[115]

(7) द्यानतराय के अज्ञान के अभाव के विषय में विचार–

जैनदर्शन में ज्ञान को सम्यक् विशेषण से विभूषित कर परिभाषित किया है कि जो वस्तुस्वरूप को परिपूर्ण जानता है, कम नहीं जानता है, अधिक नहीं जानता। जैसा वस्तु का यथार्थ सत्यस्वरूप है, वैसा ही जानता है, विपरीतता रहित जानता है, संशय रहित जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा जो वस्तुस्वरूप को यथावत् नहीं जानता, उसे अज्ञान कहा गया है। उस अज्ञान को जैनदर्शन में मिथ्याज्ञान कहा गया है। उस मिथ्याज्ञान को मिथ्यात्व भी कहा जाता है।

यह जीव अनादिकाल से ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण दुखी है। इन तीनों के कारण चार गति, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए जन्म–मरण का दुःख भोग रहा है। मिथ्यादर्शनादि विकारी भावों के कारण विविध संयोगों के बीच में रहते हुए भी इसे आज तक सुख प्राप्त नहीं हुआ। ये अज्ञान भाव अनादिकाल से चले आ रहे होने के कारण अग्रहीत मिथ्यात्व कहलाते हैं।

इनके अतिरिक्त इन्हीं को पुष्ट करनेवाले अनेकानेक बाह्य कारणों में अपनी अज्ञानता से स्वयं उलझकर या अन्य के माध्यम से उलझकर यह जीव अनन्त दुःख भोग रहा है। इन्हें नया ग्रहण करने के कारण ये गृहीत मिथ्यात्व कहलाते हैं। इस जीव के अनन्त दुःखों के एकमात्र कारणभूत इन विकारीभावों के सम्बन्ध में छहढालाकार दूसरी ढाल में इस प्रकार लिखते हैं –

ऐसे मिथ्यादृग–ज्ञान–चर्ण वश, भ्रमत भरत दुःख जन्ममर्ण।
तातैं इनको तजिए सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान।।[116]

इस प्रकार यह जीव अपने ही अज्ञान भाव–मिथ्यादर्शन –ज्ञान–चारित्ररूप अज्ञानता के कारण दुःखी है तथा इस अज्ञानता को

समूल नष्ट कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप निरपराधी दशा प्रगटकर सुखी हो सकता है।

सच्चे देव–शास्त्र–गुरु का वास्तविक स्वरूप समझकर उन्हें ही यथार्थ देव–शास्त्र–गुरु मानने से तथा अन्य रागादि सहित रागादिपोषक किन्हीं को भी सच्चे देव–शास्त्र–गुरु नहीं मानने से गृहीत मिथ्यादर्शन नष्ट होता है। इसी सत्य श्रद्धानपूर्वक रागादिपोषक शास्त्रों को सत् शास्त्र नहीं जानने, रागादि सम्पन्न देव–गुरु को सच्चा देव–गुरु नहीं जानने से गृहीत मिथ्याज्ञान नष्ट होता है तथा प्रशंसा आदि के लोभ से, पूजा–प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने की भावना से मूढ़तामय बाह्याचरण का पालन नहीं करने से एवं आत्मा–अनात्मा का विवेक जागृत कर सम्यक् आचरण करने से अज्ञान नष्ट हो जाता है।

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान श्रद्धान कर आत्मानुभव करने से अगृहीत मिथ्यादर्शन–ज्ञानचारित्ररूप अज्ञान नष्ट हो जाता है।

अज्ञानता का कारण मिथ्यात्व

द्यानतरायजी ने अपने पदों में जगह–जगह अज्ञान का अभाव कर शुद्धतत्त्व देखने का उपदेश दिया है और उन्होंने अज्ञान के कारण जीव की मान्यता का वर्णन उपदेशशतक में इस प्रकार किया है –

मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं रागी मानै।
मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं दोषी जानै।।
मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं रोगी देखै।
मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौ भोगी पेखै।।
जो मिथ्यादृष्टी जीव, सो शुद्धातम नाहीं लहैं।
सोई ज्ञाता जो आपकौं, जैसा का तैसा गहैं।। 106 ।।

अज्ञान के कारण जीव की अवस्थाओं का वर्णन कर शुद्धात्मा को अंगीकार करने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि –

बहिरातम के भाव तजि, अंतर आतम होय।
परमातम ध्यावैं सदा, परमातम सो होय।।[117]

अर्थात् बहिरात्मा के भाव को छोड़कर अन्तरात्मा बनने की कोशिश करना चाहिए और परमात्मा को ध्याने से ही परमात्मा बन सकते हैं।

अज्ञान का अभाव कर ज्ञान प्राप्ति करना ही श्रेयस्कर है, ज्ञान प्राप्ति से समस्त दुःखों का अभाव होकर जीव पूर्ण सुखी बनता है। द्यानतरायजी ने भी अज्ञान को मिटाकर ज्ञान प्रकटाने का मार्गदर्शन दिया है।

आतम अनुभव करना रे भाई।।टेक।।
जब लों भेदज्ञान नहिं उपजे, जनम मरन दुख भरना रे।
आगम पढ़ नव पद तत्त्व बखानै, व्रत तप संजम धरना रे।
आतम–ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी–संकट परना रे।।
सकल ग्रंथ दीपक है भाई मिथ्या तमको हरना रे।
कहा करें ते अन्ध पुरुष को, जिन्हें उपजना मरना रे।
द्यानत जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
'सोऽहं' ये दो अक्षर जपके, भव–जल पार उतरना रे।। [118]

ज्ञानी और अज्ञानी का स्वरूप बताते हुए द्यानतरायजी तत्त्वसार भाषा में लिखते हैं –

भव्य करै चिरकाल तप, लहैं न सिव विन ग्यान।
ग्यानवान ततकाल ही, पावैं पद निरवान।।
देह आदि परद्रव्य मैं, ममता करै गँवार।
भयौ परसमैं लीन सो, बाँधै कर्म अपार।।
इंद्रीविषै मगन रहै, राग दोष घटमाहिं।
क्रोध मान कलुषित कुधी, ग्यानी ऐसौ नाहिं।। [119]

अर्थात् जब तक मन परद्रव्यों में व्याप्त है, तब तक उग्र तप को भी करता हुआ भव्य जीव मोक्ष को नहीं पाता है, किन्तु शुद्धभाव में लीन होने पर शीघ्र ही पा लेता है तथा जो देहादिक परद्रव्य हैं और जब तक उनके ऊपर ममत्व भाव करता है, तब तक वह पर समय में रत है, अतएव नाना प्रकार के कर्मों से बँधता है। यह सब जीव के अज्ञान भाव के कारण ही होता है। अब वे ज्ञानी अज्ञानी के स्वरूप के बारे में बताते हैं –

जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त मूढ़ कषाय–युक्त अज्ञानी पुरुष नित्य किसी में रुष्ट होता है और किसी में सन्तुष्ट होता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष इससे विपरीत स्वभाव वाला होता है।

अज्ञानता के कारण यह जीव किस प्रकार राग–द्वेष अज्ञानभावों में परिणमित होता है। इसका वर्णन तत्त्वसार भाषा की टीका में इस प्रकार किया गया है –

मूढ़ बहिरात्मा अज्ञानी पुरुष नित्य सर्वकाल रात–दिन किसी अनिष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्य में रुष्ट होता है अर्थात् द्वेष करता है और किसी इष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्य में सन्तुष्ट होता है अर्थात् प्रसन्न होकर राग करता है।

प्रश्न–कैसा होता हुआ वह किसी में द्वेष और किसी में राग करता है?

उत्तर–निर्विषयरूप परमात्मा से विपरीत जो पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं, उनके वश में गया हुआ यह इन्द्रिय–विषयासक्त जीव किसी वस्तु में द्वेष और किसी वस्तु में राग करता है।

प्रश्न–और यह इन्द्रिय–विषयासक्त जीव कैसा होता है?

उत्तर–सकषाय और अज्ञानी होता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों के साथ जो रहता है, सकषाय कहलाता है तथा अज्ञान जिसके पाया जाये, वह अज्ञानी कहलाता है। इन्द्रिय–विषयासक्त जीव सकषाय भी है और आत्मज्ञान से रहित होने के कारण अज्ञानी भी है। इस अज्ञानी और सकषाय जीव से ज्ञानी विपरीत होता है।

प्रश्न–ज्ञानी कौन कहलाता है?

उत्तर–जो स्व–समय–रत अन्तरात्मा है, वह ज्ञानी कहलाता है। ऐसा जानकर अज्ञान, पर–समयत्व, कषाय, इन्द्रियादि दोषों से विलक्षण, वीतराग, सर्वज्ञ शासन का मूल जो स्वसंवेदन ज्ञान है और जो सम्पूर्ण विमल केवलज्ञान का कारणभूत है, वही वीतराग विज्ञान सर्वप्रकार से उपादेय है।[120]

द्यानतरायजी भी वीतराग–विज्ञान स्वरूप केवलज्ञान का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं –

देखौ भाई आतम राम विराजै।
छह दरब नव तत्व गेय हैं, आपसु ग्यायक छाजै।। देखो भाई।।
अरिहंत सिद्ध सूरि गुरु मुनिवर, पाँचौ पद जिह माहिं।
दरसन ग्यान चरन तप जिस मैं पटतर कोऊ नाहीं।। देखो भाई।।
ग्यान चेतन कहियै जाकी, बाकी पुद्गल केरी।
केवल ग्यान विभूति जा सकै, आतम विभ्रम चेरी।। देखो भाई।।
एकेंद्री पंचेन्द्री पुद्गल, जीव अतिंद्री ग्याता।
द्यानत गही सुद्ध दरब कौ, जान पनो सुख दाता।। देखो भाई।।[121]

अर्थात् यह आतमराम विराजमान है। यह आत्मा ज्ञायक स्वभावी है तथा छह द्रव्य, नवतत्त्व ज्ञेय है। अरिहंत, सिद्ध, गुरु ये दर्शन, ज्ञान व चारित्र तप जिनमें विद्यमान है, चेतन को ज्ञानस्वरूप कहकर बाकी सब को पुद्गल की उपमा है तथा जो शुद्ध द्रव्य को जानता है, वही सुख को प्राप्त करता है।

(8) सद्गुरु का महत्त्व–

जिनवाणी के सम्पूर्ण रहस्य को जानकर जो आत्मा में स्थिर रहते हैं। आत्मस्थिर नहीं रह पाने पर आत्मस्थिरता में कारणभूत स्वाध्यायादि रूप ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। सभी प्रकार के आरम्भ और परिग्रह से सर्वथा रहित होते हैं। जिनका जीवन रंचमात्र भी विषय–भोगों की लालसा के अधीन नहीं होता है अर्थात् जो उनकी लालसा से पूर्णतया रहित है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्रत्नत्रय से सहित है जिनका बाह्य आचरण भी आगम के अनुकूल है। ऐसे आत्मज्ञानी–ध्यानी नग्न दिगम्बर मुनिराज सच्चे गुरु हैं।

विद्यागुरु हमारे ज्ञान में कारण होने से, हमारे पूर्णतया व्यक्तिगत कार्य में निमित्त होने के कारण, भूमिकानुसार आदरणीय, सम्माननीय है, परन्तु सच्चे गुरुओं की गुरुता निरपेक्ष गुरुता है। किसी के ज्ञान में निमित्त होने या नहीं होने से उनकी पूज्यता में कोई अन्तर नहीं आता है। वे वास्तव में अपनी वीतरागता के कारण पूज्य हैं। इसीलिए दिगम्बर मुनिराज ही सच्चे गुरु कहलाते हैं; क्योंकि वे किसी के प्रति राग–द्वेष के भाव नहीं रखते। जैसा कि कहा गया है –

णिप्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो।।[122]

अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करानेवाले मूलगुणादि तपश्चरणों को जो साधु सर्वकाल अपने आत्मा से जोड़ते हैं और सर्व जीवों में समभाव को प्राप्त होते हैं, इसलिए वे सद्गुरु कहलाते हैं।

इसी प्रकार सद्गुरु (साधु परमेष्ठी) का स्वरूप द्रव्यसंग्रह में भी बताया है –

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारितं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स।।[123]

अर्थात् जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्ष के मार्गभूत, सदा शुद्ध चारित्र को प्रकटरूप से साधते हैं, वे मुनि साधु परमेष्ठी कहलाते हैं।

नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

ग्यान कौ उजागर, सहज–सुखसागर
सुगुन–रतनागर, विराग–रस भर्‌यौ है।
सरन की रीति हरै, मरन कौन भै करै
करन सौं पीठि दे, चरन अनुसर्‌यौ है।।

धरम कौ मंडन, भरम को विहंडन है
परम नरम ह्वै कै, करम सौं लर्‌यौ है।
ऐसौ मुनिराज, भुविलोक मैं विराजमान
निरखि बनारसी, नमस्कार कर्‌यौ है।।5।।[124]

अर्थात् जो ज्ञान के प्रकाशक हैं, साहसिक आत्मसुख के समुद्र हैं, सम्यक्त्वादि गुणरत्नों की खान हैं, वैराग्य–रस से परिपूर्ण हैं, किसी का आश्रय नहीं चाहते, मृत्यु से नहीं डरते, इन्द्रिय–विषयों से विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं, जिनसे धर्म की शोभा है, जो मिथ्यात्व का नाश करने वाले हैं, जो कर्मों के साथ अत्यन्त शान्तिपूर्वक लड़ते हैं – ऐसे साधु महात्मा जो पृथ्वीतल पर शोभायमान हैं, उनके दर्शन करके पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

नियमसार, गाथा 75 में सद्‌गुरु का स्वरूप इस प्रकार बताया है– 'समस्त आरम्भादि बाह्य व्यापार से विमुक्त, चतुर्विध आराधना में सदा रत, निर्ग्रन्थ और निर्मोही–ऐसे साधु होते हैं।'

निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरण में निरत–ऐसे सर्व साधुओं का स्वरूप निम्न प्रकार है–

(1) वे परमसंयमी महापुरुष होने से त्रिकाल–निरावरण, निरंजन परम पंचमभाव की भावना में परिणमित होने के कारण ही समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त हैं। (2) वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परमतप नाम की चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त हैं। (3) वे बाह्य–आभ्यन्तर समस्त परिग्रह से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ हैं तथा (4) वे सदा निरंजन निज कारण समयसार के चरण के सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरण से प्रतिपक्षी – ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने के कारण निर्मोही हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार, गाथा 201 में कहते हैं कि 'पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्ख परिमोक्खं' अर्थात् यदि दुःखों से परिमुक्त होने की इच्छा है तो श्रामण्य (मुनिदशा) को अंगीकार करो। तात्पर्य यह है कि संसार दुःखों के अभाव के लिए और मुक्ति–सुख की उपलब्धि के लिए मुनिपने को ग्रहण करना चाहिए।

श्रमण का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए प्रवचनसार के रचनाकार लिखते हैं कि –

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।[125]

अर्थात् जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान है, सुख–दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा समान है, मिट्टी का ढेला और सुवर्ण समान है तथा जीवन मरण के प्रति भी जिसको समता है, वह श्रमण है।

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति।।[126]

अर्थात् समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त, चतुर्विध आराधना में सदा रक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह–ऐसे साधु होते हैं।

णिस्सगो णिरारम्भो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य।
एगागी झाणरहो सव्वणगुड्ढो हवे समणो।।[127]

अर्थात् जो निष्परिग्रही व निरारम्भ है, भिक्षाचर्या में शुद्धभाव रखता है, एकाकी ध्यान में लीन होता है और सब गुणों से परिपूर्ण होता है, वह श्रमण है।

अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः।[128]

अर्थात् जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा की साधना करते है, उन्हें साधु कहते हैं।

अणतणाणदसणवीरियविरइखइयसम्मत्तादीणं साध्या साहूणाम्।।[129]

अर्थात् जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों के साधक हैं, वे साधु कहलाते हैं।

इस प्रकार जैनशास्त्रों में सद्गुरु का स्वरूप निम्नानुसार बताया है –

(1) जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके अन्तरंग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं।[130]

(2) परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं रखते।

(3) अपने ज्ञानादिक स्वभावों को ही अपना मानते हैं।

(4) परभावों में ममत्व नहीं करते।

(5) परद्रव्य तथा उनके स्वभाव ज्ञान में परिभाषित होते हैं, उन्हें जानते तो अवश्य हैं, किन्तु इष्ट–अनिष्ट मानकर उनमें राग–द्वेष नहीं करते।

(6) शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य में अनेक प्रकार के निमित्त आते हैं, किन्तु वे गुरु वहाँ कुछ भी सुख–दुःख नहीं मानते।

(7) अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसी होती है, वैसी होती है, किन्तु उसे खींच–तानकर नहीं करते।

(8) वे अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते, किन्तु उदासीन होकर निश्चल वृत्ति को धारण करते हैं।

(9) कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है, जिसके द्वारा वे शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में अनुराग करते हैं परन्तु उस रागभाव को भी हेय जानकर दूर करने की इच्छा करते हैं।

(10) तीव्र कषाय के उदय के अभाव से हिंसादिकरूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही उनके नहीं रहा है।

(11) सर्व मुनियों को ऐसी अन्तरंग दशा होने से बाह्य दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी होते हैं।

(12) जो शरीर संस्कारादि विक्रिया से रहित होते हैं।

मुनिधर्म का मूल सम्यग्दर्शन

गुरुओं का माहात्म्य इसलिए है; क्योंकि वे आत्मा के ज्ञानपूर्वक वैराग्य होने से, समस्त परिग्रह छोड़कर अन्तर में शुद्धोपयोग द्वारा तीन कषायों का अभाव होने पर मुनिदशा प्रगट करते हैं। मुनिधर्म शुद्धोपयोगरूप है। उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है अर्थात् मुनि होनेवाले को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो पहले हो चुका है, इसलिए सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र दशा होती है।

सम्यग्दर्शन के बिना तो चौथा या पाँचवाँ गुणस्थान भी नहीं होता, तब फिर मुनिदशा का छठवाँ–सातवाँ गुणस्थान तो होगा ही कहाँ से? पहले मुनि होकर व्यवहार–चारित्र का पालन करो और फिर भगवान के निकट जाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे–ऐसा जो मानते हैं, उन्हें न तो मुनिदशा की खबर है और न सम्यग्दर्शन की खबर है।[131]

शुद्धोपयोगरूप गुरुपना

सम्यग्दर्शनपूर्वक वैराग्य होने से, वस्त्रादि समस्त परिग्रह छोड़कर अन्तर स्वभाव के अवलम्बन से शुद्धोपयोगी चारित्र प्रगट हुआ, उसका नाम

मुनिदशा है। जैन मुनि ऐसे होते हैं कि वे शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं। शुद्धोपयोगरूप वीतरागी चारित्र ही सच्चा गुरुपना है। इसके सिवाय शुभराग में या शरीर की दिगम्बर दशा में मुनित्व नहीं है। मुनियों के पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि होते हैं। वह शुभोपयोग मुनिदशा नहीं है। मुनि वास्तव में उस शुभोपयोग को नहीं आदरते, किन्तु अन्तर में शुद्धोपयोग का ही अनुभव करते हैं।

परद्रव्य या परभाव में ममत्व का अभाव –

सद्‌गुरु अपने ज्ञानादि स्वभाव को ही अपना मानते हैं, इसके सिवाय किसी भी परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं करते और न रागादि परभावों में ममत्व करते हैं; अपने ज्ञानादि स्वभाव को ही अपना स्वरूप मानते हैं और परद्रव्य, राग या परभाव में ममत्व नहीं रखते।

पर को इष्ट–अनिष्ट मानने का अभाव –

परद्रव्य में अहंबुद्धि न होने पर भी, परद्रव्य तथा उसके स्वभाव ज्ञान में स्वयं प्रतिभासित होते हैं, उसे मुनि जानते अवश्य हैं, किन्तु उसे इष्ट–अनिष्ट मानकर राग–द्वेष नहीं करते। सम्यक्त्वी को भी पर में इष्ट–अनिष्टपने की बुद्धि तो नहीं है, किन्तु अभी राग–द्वेष होता है और मुनिदशा में तो महान वीतरागता प्रगट हो गयी है। मुनि परवस्तु को जानते ही नहीं–ऐसा नहीं है। आकुलतापूर्वक पर को जानते नहीं, किन्तु परद्रव्य सहज ही ज्ञान में ज्ञात होता है, उसे जानते हैं, परन्तु उसमें कहीं भी ममत्व नहीं करते और न कहीं इष्ट अनिष्टपना मान राग–द्वेष करते हैं।

पर से सुख–दुःख मानने का अभाव –

शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, रोगादि होते हैं और बाह्य में अनेक प्रकार के निमित्त आते हैं, किन्तु वे उनमें किंचित् सुख–दुःख नहीं मानते। पर में इष्ट–अनिष्टपना मानकर राग–द्वेष नहीं करते और न सुख–दुःख मानते हैं–ऐसी मुनि की दशा होती है। इन्द्र आकर पूजा करें या सिंह–चीते आकर शरीर को फाड़ खायें, उसमें मुनि सुख–दुःख नहीं मानते। यद्यपि सम्यक्त्वी भी पर से सुख–दुःख नहीं मानते, किन्तु मुनि को तो तदुपरान्त स्वरूप की स्थिरता होने से महान वीतरागता हो गयी है, इसलिए हर्ष–शोक नहीं होते।

बाह्य क्रिया खींच–तानकर नहीं करते –

अपनी मुनिदशा के योग्य बाह्य क्रिया जैसी होती है, वैसी होती है,

किन्तु उसे खींच–तानकर नहीं करते। उदासीनरूप से सहज ही बाह्य क्रिया होती है। इतने समय में मुझे अमुक स्थान तक विहार करना ही पड़ेगा, अमुक प्रसंग पर मुझे बोलना ही पड़ेगा – ऐसा बाह्य क्रिया का हठाग्रह मुनि के नहीं होता। यहाँ मुनिदशा के योग्य हो – ऐसी बाह्य क्रिया की बात है, जो मुनिदशा में योग्य न हो – ऐसी बाह्य क्रिया मुनि के होती ही नहीं, ऐसा ही मेल है।

उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते –

मुनि अपने उपयोग को बहुत भटकाते नहीं हैं, किन्तु उदासीन होकर निश्चल वृत्ति को धारण करते हैं। तीन कषायों का नाश होने से महान वीतरागी स्थिरता प्रगट हुई है; इसलिए उपयोग को बहुत नहीं भटकाते। बाहर की यह बात जान लूँ, वह बात जान लूँ, इतनी पुस्तकें पढ़ लूँ–इस प्रकार जहाँ–तहाँ उपयोग को नहीं ले जाते। यद्यपि अभी स्वरूप में उपयोग पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ है, इसलिए बाह्य में भी जाता है, किन्तु उसे अधिक नहीं घुमाते; मुख्यतया तो शुद्धोपयोग की ही साधना करते हैं। मुनियों के शुद्धोपयोग की प्रधानता है और शुभोपयोग गौण है।

अन्तरंगदशा पूर्वक बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्रा –

इस प्रकार मुनि की अन्तरंगदशा का स्वरूप बताया। वैसी अन्तरंगदशा पूर्वक बाह्य में कैसी दशा होती है? उसको जानना आवश्यक है। उपर्युक्त अन्तरंग दशा होने पर बाह्य में मुनि दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी होते हैं। मुनि की बाह्य मुद्रा भी उपशान्त स्थिर सौम्य होती है। शरीर के समस्त अंग–विकाररहित उपशान्त हो गये हैं। मुनि को शरीर पर वस्त्रादि नहीं होते और शरीर–संस्कारादि विक्रिया भी उनके नहीं होती।

अन्तर में तीन कषायों का नाश होकर शुद्धोपयोगरूप वीतरागी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ बाह्य में शरीर की दिगम्बर सौम्य मुद्रा न हो–ऐसा नहीं हो सकता तथा अन्तरंग में शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा प्रगट हुए बिना, मात्र बाह्य में दिगम्बर हो तो उसे मुनिदशा नहीं कहा जाता। इसलिए अन्तरंग और बाह्य दशा का जैसा मेल है, वैसा जानना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी तो संसारतत्त्व –

सच्चे गुरुओं के तो अन्तरंग की शुद्धोपयोगदशा पूर्वक बाह्य में

दिगम्बर द्रव्यलिंग होता है। अन्तरदशा को जाने बिना अकेले बाह्य के द्रव्यलिंग से ही जो अपने को मुनित्व मानता है, वह तो संसारतत्त्व ही है। मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिंगी हो जाये, तथापि उसने संसार किंचित् भी नहीं छोड़ा है, क्योंकि वह उदयभाव में ही अवस्थित है, इसलिए संसार में ही पड़ा है और सम्यक्त्वी धर्मात्मा गृहस्थपने में हो, तथापि उसे सम्यग्दर्शनादिरूप जो उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव प्रगट हुआ है, उसके उतना संसार छूट गया है।

मिथ्यात्वादि छूटने पर अनन्त संसार तो उसके छूट गया है, इसलिए मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को श्रेष्ठ कहा है। मिथ्यादृष्टि मुनि तो संसारमार्गी है और सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्गी है। यहाँ तो सच्चे भावलिंगी मुनियों (सद्गुरुओं) की बात है। जहाँ अन्तरंग दशापूर्वक बाह्य दिगम्बर दशा न हो, वहाँ मुनित्व नहीं होता।

अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्ड पालन –

मुनि अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्ड पालन करते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, स्नानरहितता, नग्नता, अदन्त–धोवन, भूमिशयन, स्थिति–भोजन और एक बार आहार ग्रहण– इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों में मुनि विपरीतता नहीं आने देते।

बाईस परीषहों का पालन –

मुनि बाईस परीषह सहन करते हैं। मार्ग से अच्युतपने के लिए तथा निर्जरा के हेतु परीषह सहन करना कहा है अर्थात् जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मार्ग प्रगट हुआ हो, उसके उस मार्ग से अच्युतिरूप परीषहजय होता है, किन्तु जिसके अभी मार्ग ही प्रगट नहीं हुआ – ऐसे मिथ्यादृष्टि के परीषह नहीं होता। परीषह कहीं दुःख नहीं है। भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी आदि के दुःख सहन करने को अज्ञानी लोक परीषहजय कहते हैं, किन्तु वह बात सत्य नहीं है। जिसमें दुःख मालूम हो या अन्तरंग में राग–द्वेष हो, वही परीषह नहीं है। राग–द्वेष की उत्पत्ति होने पर उसे जीतना ही परीषहजय है–ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नहीं है। (क्योंकि जब राग–द्वेष की उत्पत्ति हो ही गयी तो उसे जीतना कैसे सम्भव है।)

इस प्रकार अन्तर में जो शुद्धोपयोगी वीतरागी चारित्र है, वही मुनित्व है, ऊपर अन्तरंग और बहिरंग स्वरूप सद्गुरुओं का स्वरूप प्रतिपादित

किया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो राग–द्वेष रहित है, अपने आत्म स्वरूप में लीन रहने का निरन्तर अभ्यास करते हैं और सर्व परिग्रह से रहित हैं, वे सच्चे गुरु कहलाते हैं।

जैसा कि बनारसीदासजी ने भी एक पद में कहा है –

ऐसे मुनिवर देखे वन में, जाके रागद्वेष नहिं मन में।। टेक।।
विरक्तभाव वृक्ष के नीचे, बूँद सहें वह तन में।।
झाड़ी जंगल नदी किनारे, ध्यान धरें वो मन में।
गिरिवर मरुत शिखर के ऊपर, ध्यान धरें ग्रीषम में।
ऐसे मुनिवर देख 'बनारसी' नमन करत चरणन में।। ऐसे।।[132]

कविवर द्यानतराय ने भी सद्गुरु का स्वरूप बताकर उनका माहात्म्य बताया है। एक पद में सद्गुरु का महत्त्व इस प्रकार बताया है –

हम तो कबहूँ न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते। नाव अनेक धराये।। हम.।।
पर पद निज पद मानि मगन है, पर परिणति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुख कन्द मनोहर आतम गुण नहिं गाये।। हम.।।
पर पशु देवन कौ निज मान्यो, परजै बुद्धि कहाये।
अमूल अखंड अतुल अविनासी। चेतन भाव न भाये।। हम.।।
हित अनहित कछु समझयो नाहीं। मृग जल बुध ज्यौं धाए।।
द्यानत अब निज–निज पर है सत्गुरु बैन सुनाये।। हम.।।[133]

द्यानतरायजी कहते हैं कि मैं कभी भी अपने स्वरूप के निकट नहीं आया, परद्रव्य को अपना मान कर बहुत दिन बिता दिए। परद्रव्य को निजद्रव्य मानकर मैं मग्न हो रहा था, लेकिन अभी भी शुद्ध, बुद्ध, सुख की खान आत्मा को नहीं जाना और मनुष्य, तिर्यंच एवं देव को अपना स्वरूप मानकर अपने चेतनभाव को मैंने भुला दिया, किन्तु जब सद्गुरु का समागम मिला तो उनकी वाणी से मेरी अज्ञानता दूर होकर सद्बुद्धि मिल गयी।

गुरु ज्ञान की धारा बरसाने वाले एवं मिथ्यात्व के नाशक बताते हुए वे लिखते हैं –

परम गुरु बरसत ज्ञान झरी।
हरषि हरषि बहु गरजि गरजि कै मिथ्यातपन हरी।। परम.।।
सरधा भूमि सुहावन लागै, संशय बेलि हरी।

भविजन मन सर वर भरि उमड़े समुझि पवन सियरी।। परम।।
स्याद्वाद बिजली चमकै, पर–मत शिखर परी।
चातक मोर साधु श्रावक के ह्रदय सुभक्ति भरी।। परम.।।
जप तप परमानन्द बढ्यो है सुसमय नीव धरी।
द्यानत पावन पावस आयो थिरता शुद्ध करी।। परम.।।[134]

गुरु अपनी ज्ञान की वर्षा से मिथ्यात्व का हरण करते हैं, उनकी श्रद्धा से संशय का अभाव हो जाता है। उनकी वाणी में स्याद्वाद रूपी बिजली चमकती है, उनकी वाणी ने श्रावकों के ह्रदय में भक्ति का संचार कर दिया। जप, तप करके परम आनन्द की प्राप्ति हो गई। द्यानतराय कहते हैं कि अमृत वर्षा का पावन दिन आ गया, जिससे आत्मा में स्थिरता हो गई है। गुरु को जगत से पार करनेवाला जहाज की उपमा देते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं –

गुरु समान दाता नहिं कोई।। टेक।।
भानु प्रकाश न नाशत जाको, सो अँधियारा ठारै खोई।
मेघ समान सबन पै बरसै, कछु इच्छा जाकै नहिं होई।
नरक पशुगति आग माहिंतैं, सुरग मुकत सुख थापै सोई।।
तीन लोक मदिर में जानो, दीपक मम परकाश कलोई।
दीप तले अँधियार भर्यौ है अंतर बहिर विमल है जोई।।
तारन तरन जिहाज सुगुरु है, सब कुटुम्ब डोवै जग तोई।
द्यानत निशिदिन निरमल मन में राखो गुरुपद पंकज दोई।।[135]

गुरुओं को राग–द्वेष से रहित बताते हुए वे लिखते हैं –

धनि ते साधु रहत वन मांही।। टेक।।
शत्रु मित्र सुख दुख सम जानै, दरसन देखत पाप पलाही।।
अट्ठाइस मूल गुण धारै, मन वच काय चपलता नाहीं।
ग्रीष्म शैल शिखर हिम तरिनी, पावस वरखा अधिक सहाही।।
क्रोध मान छल लोभ न जानै राग दोष नाहीं उनपाहीं।
अमल अखण्डित चिदुण मंडित ब्रह्मज्ञान में लीन रहाहीं।।
तेई साधु लहै केवल पद, आठ–आठ दह शिवपुर जाहीं।
'द्यानत' भवि तिनके गुण गावैं पावै शिवसुख दुख नसाही।।[136]

सद्गुरु को वनवासी, परिग्रह रहित एवं तपस्वी की उपमा देते हुए वे लिखते हैं –

धनि धनि ते मुनि गिरिवन वासी।। टेक।।
मार मार जग जार जारते द्वादस व्रत तप अभ्यासी।।
कौड़ी लाल पास नहिं जाके जिन छेदी आसा पासी।
आतम आतम पर–पर जानै, द्वादस तीन प्रकृति नासी।।
जा दुख देख दुखी सब जग है सो दुख लख सुख है तासी।
जाको सब जग सुख मानत है सो सुख जान्यो दुखरासी।।
बाह्य भेष कहत अंतर गुण, सत्य मधुर हितमित भासी।
द्यानत ते शिव पथिक है पाँव परत पातक जासी।।[137]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि द्यानतरायजी ने दिगम्बर भावलिंगी मुनिराजों को ही सद्गुरु स्वीकार किया है और उन्हीं का समागम करने की प्रेरणा दी है।

(9) साधक की अनिवार्यता सम्बन्धी विचार –

द्यानतराय भक्त कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गुरु, जिनधर्म, जिनवाणी की स्तुति की है। स्तुति में दो वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। एक साध्य दूसरा साधक, स्तुति साध्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से साधक करता है। अतः द्यानतरायजी ने साधक की अनिवार्यता सम्बन्धी विचार जगह–जगह प्रगट किये हैं। उन्होंने कहा है कि जो जिनराज की साधना करता है, वह एक पल में शिवराज अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।[138] साधक के कार्यों को गिनाते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं कि सच्चा साधक जड़ चेतन में भेदविज्ञान कर लेता है और परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।[139] सच्चा साधक तत्काल ही मोक्ष सुख प्राप्त कर लेता है, जबकि अज्ञानी बहुत तप करने पर भी सुख प्राप्त नहीं कर पाता है।[140] इस प्रकार द्यानतरायजी ने मोक्ष प्राप्ति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को मोक्ष का साधन बताते हुए सम्यग्दृष्टि को सच्चा साधक कहा है।

(10) आस्रव निरोध की चर्चा तथा संवर, निर्जरा की चर्चा –

द्यानतरायजी ने कर्मों के आने को आस्रव कहा है[141] तथा आस्रव के निरोध को ही संवर माना है।[142] जैसे माली आदि के माध्यम से जलाशयों में जल प्रविष्ट होता है, वैसे ही आत्मा में कर्म–प्रवाह आस्रव द्वार से प्रवेश करता है। आस्रव कर्म–प्रवाह को भीतर प्रवेश देनेवाला द्वार है। जैनदर्शन

के अनुसार यह लोक पुद्गल वर्गणाओं से ठसाठस भरा है। उनमें से कुछ ऐसी पुद्गल वर्गणाएँ हैं, जो कर्मरूप परिणत होने की क्षमता रखती हैं। इन वर्गणाओं को कर्म वर्गणा कहते हैं। जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों के निमित्त से ये कार्माण वर्गणाएँ जीव की ओर आकृष्ट हो कर्मरूप में परिणत हो जाती हैं और जीव के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है। कर्म वर्गणाओं का कर्मरूप में परिणत हो जाना ही आस्रव है।[143] द्यानतरायजी ने कर्मों के आने को रोकने के लिए भेदविज्ञान का सहारा लिया है। उनके पदों एवं भजनों में आस्रव निरोध की चर्चा बहुत आती है। उदाहरणस्वरूप –

ज्ञानावरनादिक जमरूपी, जिनतैं भिन्न निहार।
रागादिक परिणति लख न्यारी, न्यारो सुबुध विचार।।घट।।[144]

उसी प्रकार कर्मों का आना रुक जाना ही संवर है। संवर का मोक्षमार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संवरपूर्वक होने वाली निर्जरा ही मोक्ष का कारण है। द्यानतरायजी ने भी जैन आगमानुसार ही संवर को परिभाषित किया है।[145] उन्होंने संवर को निर्विकल्परूप एवं आस्रव को सविकल्प कहा है।

आतमतत्त्वतने द्वै भेद, निरविकल्प सविकलप निर्वेद।
निरविकलप संवर कौ मूल, विकलप आस्रव यह जिय भूल।।[146]

इस प्रकार द्यानतराय ने आस्रव निरोध की चर्चा कर शुद्धात्मा को पहचानकर निर्विकल्प रूप संवर को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।[147]

कर्मों के आंशिकरूप से झड़ने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा वही जीव कर सकता है, जो अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। बिना आत्मा के पहचाने कर्मों की संवर, निर्जरा सम्भव नहीं है अर्थात् संवर, निर्जरा आत्मज्ञानी जीव के ही सम्भव है। द्यानतराय ने भी कर्मों को नष्ट करने के लिए आत्मज्ञान को श्रेष्ठ माना है[148]– निर्जरा करनेवाले जीव को मोक्ष सुख मिलता है। वह संसार दुःख को छोड़कर अनन्तकाल तक मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

करै करम की निरजरा, भव पींजरा विनाशि।
अजर अमर पद को लहैं, द्यानत सुख की राशि।।[149]

द्यानतराय आध्यात्मिक कवि थे, अतः उन्होंने कर्मों को दुःखरूप, दुःखदायक तथा संसारभ्रमण के कारण बताकर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा दी है। उनका सम्पूर्ण काव्य शुद्धात्मा की पहचान, ज्ञान व उसमें लीनता के गीतों से भरा हुआ है।

सन्दर्भ सूची

1. तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ–525
2. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ–255
3. वृहद्द्रव्य संग्रह, पृष्ठ–268
4. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ–35
5. द्रव्यसंग्रह टीका 56/238
6. डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय रचित भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ.7
7. Charvaka Shasti, Page 18
8. दौलतरामजी कृत छहढाला, पहली ढाल, पद–1
9. द्यानत विलास, पद–35
10. वृहद् द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ–267
11. डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय रचित भारतीय दर्शन का इतिहास, पृष्ठ–14
12. वही, पृष्ठ–16
13. वही, पृष्ठ–17
14. डॉ. रामकृष्ण आचार्य रचित भारतीय दर्शन, पृष्ठ–6–6
15. ईश्वर मीमांसा, पृष्ठ–71
16. वही
17. भारतीय दर्शन की रूपरेखा – प्रो. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, पृष्ठ–57
18. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–59
19. वही, पृष्ठ–63
20. न्यायसार, पृष्ठ–328
21. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–192
22. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–193
23. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–198
24. शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारात्, न्यायसिद्धान्त मुक्तावली
25. न विषयव्यवस्थानात्। तद् व्यवस्थानादेवात्मसद् भावादप्रतिषेधः, न्यायसूत्रः 3–1–2–3
26. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–199
27. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–200
28. न्यायसूत्र, 4–2–42
29. भारतीय दर्शन का इतिहास, पृष्ठ–176
30. द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, प्रथम भाग, 90, 305
31. योगसूत्र, 1/49, पर व्यासभाष्य
32. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–202
33. वही, पृष्ठ–204

34. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–208

35. भारतीय दर्शन का इतिहास, पृष्ठ–265

36. भारतीय दर्शन का इतिहास, पृष्ठ–228

37. वही, पृष्ठ–289 38. वही, पृष्ठ–229

39. अमरकोश में 'संख्या' शब्द का अर्थ विचारणा या ज्ञान माना गया है। चर्चा–संख्या विचारणा वहीं पर विद्वान व्यक्ति के लिए संख्यावान शब्द का प्रयोग किया गया है – 'संख्यावान् पण्डितः कविः' जिसका मूलभूत शब्द 'संख्या निश्चय ही ज्ञानार्थक है'।

40. सांख्यकारिका, 55, 56, 57

41. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–242

42. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–261

43. वही, पृष्ठ–262

44. Out lines of Indian Philosophy, Page 282

45. वही, Vol. I, Page 253

46. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–270

47. भारतीय दर्शन का इतिहास, पृष्ठ–291

48. वही 49. वही

50. भारतीय दर्शनों की रूपरेखा, पृष्ठ–271

51. योगश्चित्तवृतेः निरोधः, 1–21

52. चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजय वदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकर राजानं मक्षिका उत्पतन्तमनुत्पतन्ति, निविशमानमनुविशन्ति तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येषः प्रत्याहारः, व्यास भाष्य

53. धारणा तु च योग्यता मनसः, योगसूत्र, 2–53

54. तत्र प्रत्येकतानता ध्यानम्, योगसूत्र–3–21

55. समाधिर्ध्यानमेवध्येयाकार निर्मासं प्रत्ययात्मके स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशा तदा समाधिरित्युच्यते, योगसूत्र–3, व्यासभाष्य

56. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–274

57. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन, गीता

58. गीता, 15/7, 59. गीता, 2/20, 60. गीता, 2/13, 61.गीता, 2/20, 62. गीता, 2/22

63. भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः, बैंतआं ैंजपए च्हम 18

64. A Treatise of Human Nature By Hume, Book-I, Part IV, Section-6

65. पंचास्तिकाय, गाथा 26

66. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ–11

67. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–137

68. अध्यात्म पाठ संग्रह, सम्पादक – श्रेयांसकुमार शास्त्री, पृष्ठ–331

69. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–113
70. वही, पृष्ठ–135
71. वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा–3
72. आध्यात्मिक पद संग्रह, पृष्ठ–340
73. तत्त्वसार भाषा, गाथा–3
74. छहढाला, ढाल–3, छन्द–4
75. छहढाला, ढाल–3, छन्द–4
76. छहढाला, ढाल–3, छन्द–6
77. द्यानतराय कृत देवपूजा, जल का छन्द
78. द्यानतराय कृत देवपूजा
79. द्यानतराय कृत देव–शास्त्र–गुरु पूजन
80. द्यानतराय कृत चर्चा शतक
81. अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ–32
82. अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ–36
83. हिन्दी पद संग्रह, पद–157, पृष्ठ – 130
84. वही, पद–160, पृष्ठ – 132
85. वही
86. द्यानतराय कृत चर्चाशतक, पृष्ठ–67, पद–58
87. वही, पृष्ठ–30, पद–24
88. द्यानतराय विलास, पद–69
89. मोक्षशास्त्र, अध्याय–10, सूत्र–प्रथम
90. मोक्षमार्ग प्रकाशक–342
91. समयसार नाटक, पृष्ठ–29
92. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन, जयमाला
93. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–110
94. रत्नत्रय पूजन, पूर्णार्घ्य पद
95. तत्त्वार्थसूत्र–2–3
96. सम्यग्दर्शन पूजा–जयमाला
97. सम्यग्ज्ञान पूजा–मुख्य पद
98. सम्यक्चारित्र पूजा–जयमाला
99. छहढाला, पहली ढाल, पद–6
100. द्यानतराय कृत छहढाला, दूसरी ढाल
101. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–122
102. वही, पृष्ठ–136
103. वही, पद–168 पृष्ठ–139
104. हिन्दी पद संग्रह, पद–139, पृष्ठ–115

105. श्री अमितगति आचार्य : योगसार प्राभृत, अधिकार–2, गाथा–46
106. अध्यात्म पद संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ–34
107. द्यानतराय : तत्त्वसार भाषा
108. आध्यात्मिक पाठ संग्रह, पृष्ठ–330
109. वही, पृष्ठ–332
110. वही, पृष्ठ–342
111. द्यानतविलास, पद–36, पृष्ठ–16
112. द्यानतविलास – द्यानतरायजी
113. तत्त्वसार भाषा–19
114. सुबोध पंचासिका – द्यानतरायजी, छन्द–26
115. द्यानतराय : अध्यात्म पंचासिका, पद–28
116. दौलतराम : छहढाला, दूसरी ढाल
117. द्यानतराय : अध्यात्म पंचासिका, पद–46
118. द्यानतराय : अध्यात्म पद संग्रह, पृष्ठ–31
119. द्यानतराय : तत्त्वसार भाषा, गाथा–33
120. देवसेनाचार्य : तत्त्वसार, गाथा–35
121. द्यानतविलास 122. मूलाचार–512
123.द्रव्यसंग्रह, 54/221
124. बनारसीदास : नाटक समयसार
125. प्रवचनसार, गाथा–241 126. नियमसार, गाथा–75
127. मूलाचार, गाथा–1002 128. धवला पुस्तक, 1/1,1,1/52/1
129. धवला पुस्तक, 8/3, 41/87/4
130. मंगलायतन पत्रिका, अंक–45, मई 2005
131. मंगलायतन पत्रिका, अंक–45, मई 2005, पृष्ठ–43
132. अध्यात्म पद संग्रह : सम्पादक मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर
133. हिन्दी पद संग्रह, पद–129, पृष्ठ –109
134. द्यानतविलास, पद–26, पृष्ठ–12 135.अध्यात्मपद पारिजात, पृष्ठ–66
136. अध्यात्मपद पारिजात, पृष्ठ–67
137. वही 138. उपदेश शतक, पद–6 139. तत्त्वसार भाषा, पद–26
140. तत्त्वसार भाषा, 34
141. द्यानत विलास पद 41
142. उपदेश शतक, 102 143. जैन तत्त्वविद्या, पृष्ठ–318
144. द्यानतविलास, पद–2 145. उपदेश शतक, 102
146. तत्त्वसार भाषा, पृष्ठ–6 147. तत्त्वसार भाषा, पद–8, 9
148. गहै नहीं पर तजै न आप, करै निरन्तर आतमजाप।
ताकैं संवर निर्जर होय, आस्रव बंध बिनासै सोच।।
149. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन।

चतुर्थ अध्याय

द्यानतराय की अध्यात्म निरूपणा

यद्यपि जैन साहित्य में अध्यात्म नींबू में खटास, मिश्री में मिठास की तरह व्याप्त है। पूर्व आचार्यों कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, पूज्यपाद अकलंकदेव आदि कई आचार्यों एवं विद्वानों ने अध्यात्म का रहस्योद्घाटन किया है, तथापि उक्त रहस्योद्घाटन सर्वजनग्राह्य नहीं हो सका। साहित्य के क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ी कमी थी। कविवर द्यानतरायजी ने इस कमी का अनुभव कर संसारी जीवों के कल्याणार्थ अध्यात्म रस से सराबोर, पद, भक्तियाँ, पूजनें एवं शतक काव्यों की रचना की।

जहाँ कलिकाल के प्रभाव से अज्ञानमयी मान्यताओं के मेघों से आच्छादित साहित्य–आकाश में अध्यात्म के उपदेष्टा खद्योतवत् टिमटिमाते थे[1] वहाँ कविवर द्यानतरायजी अपने उज्ज्वल व्यक्तित्व के साथ आविर्भूत हुए तथा उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा अध्यात्म की शीतल शान्तिदायिनी चाँदनी बिखेरकर पथभ्रष्ट पथिकों को परम कल्याण का पथ प्रदर्शित किया।

द्यानतरायजी ने जहाँ अपने काव्य में द्रव्यानुयोग गर्भित जैन सिद्धान्तों का वर्णन किया, वहीं उन्होंने चरणानुयोग को अछूता नहीं छोड़ा। चारित्र सम्बन्धी चर्चा उनके काव्य में यत्र–तत्र देखी जा सकती है।

(क) चारित्रगत–निरूपणा :–

(1) इन्द्रिय संयम की आवश्यकता– जो संयम को प्राप्त करने के बाद उसे छोड़ देता है, बिगाड़ देता है; उसको अनन्तकाल तक निगोद में परिभ्रमण, त्रस–स्थावरों में भ्रमण करना पड़ता है, सुगति नहीं मिलती है। संयम प्राप्त करके उसे बिगाड़ने के समान बड़ा अनर्थ दूसरा नहीं है। विषयों का लोभी होकर जो संयम को बिगाड़ता है, वह एक कौड़ी में चिन्तामणि रत्न बेच देनेवाले व ईंधन के लिये कल्पवृक्ष को काटनेवाले के समान है।[2]

विषयों का सुख तो सुख ही नहीं है, वह तो सुखाभास है, क्षणभंगुर है, नरकों के घोर दुःखों की प्राप्ति का कारण है; जैसा कि पाक फल जिह्वा के स्पर्शमात्र से ही मीठा लगता है, पश्चात् घोर दुःख, महादाह, सन्ताप देकर मरण को प्राप्त कराता है; उसी प्रकार भोग भी किंचित्काल मात्र ही अज्ञानी जीवों को भ्रम से सुख जैसा लगता है, पश्चात् तो अनन्तकाल तक

अनन्त भवों तक दुःख देने वाला है, इसीलिए शास्त्रों में पाँच इन्द्रिय के विषय–भोगों से विरक्ति की बात कही गयी है; क्योंकि ये पाँच इन्द्रिय के विषय ही जीव को दुःखी करते हैं। अनादिकाल से जीव इन पाँच इन्द्रिय के भोगों को प्राप्त कर स्वयं को सुखी मानता हैं, किन्तु मृगतृष्णा की भाँति इन पाँच इन्द्रिय के विषयों में कहीं भी जीव को सुख नहीं मिलता है। इसी उद्देश्य को लेकर आचार्यों ने संयम की चर्चा में संयम को दो प्रकार से विभाजित किया है –

(1) प्राणी संयम (2) इन्द्रिय संयम

छहकाय के जीवों के घात एवं घात के भावों के त्याग को प्राणी संयम कहते हैं और पंचेन्द्रियों तथा मन के विषयों के त्याग को इन्द्रिय संयम कहते हैं।

इन्द्रिय सुख के बारे में धर्म के दशलक्षण पुस्तक में डॉ0 हुकमचन्द भारिल्ल ने इस प्रकार विचार व्यक्त किये हैं –

"इन्द्रिय सुख और इन्द्रिय ज्ञान में इद्रियाँ निमित्त होती हैं, तथापि इन्द्रिय सुख, सुख है ही नहीं। वह सुखाभास है, सुख–सा प्रतीत होता है, पर वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है, पापबन्ध का कारण होने से आगामी दुःख का कारण है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ रूप–रस–गन्ध–स्पर्श और शब्द की ग्राह्य होने से मात्र जड़ को जानने में ही निमित्त हैं, आत्मा को जानने में वे साक्षात् निमित्त भी नहीं हैं।"

विषयों में उलझाने में निमित्त होने से इन्द्रियाँ संयम में बाधक ही हैं, साधक नहीं। पंचेन्द्रियों को जीतने के प्रसंग में भी सामान्यजनों का ध्यान इन्द्रियों के भोगपक्ष की ओर ही जाता है, ज्ञानपक्ष की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। इन्द्रियसुख को त्यागने की बात तो सभी करते हैं, पर इन्द्रियज्ञान हेय है। आत्महित के लिए अर्थात् अतीन्द्रिय सुख के लिए इन्द्रियज्ञान से भी विराम लेना होगा।

इन्द्रियाँ आत्मज्ञान में अवरोधक होने से ग्राह्य नहीं हैं, इसीलिए आचार्यों ने इन्द्रिय संयम की आवश्यकता महसूस की। इन्द्रियों को वश में करके ही जीव आत्मोन्मुख हो पाता है। प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं –

अत्थि अमुत्त मुत्तं अदिंदिय इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।।[3]

जिस प्रकार ज्ञान मूर्त, अमूर्त, इन्द्रिय–अतीन्द्रिय होता है, उसी प्रकार सुख भी मूर्त–अमूर्त और इन्द्रिय–अतीन्द्रिय होता है। इनमें इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख हेय हैं और अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख उपादेय है।

आचार्य अमृतचन्द्र भी लिखते हैं कि –

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति।

अर्थात् इन्द्रियसुख का साधनभूत इन्द्रियज्ञान हेय है। इस प्रकार इन्द्रियज्ञान की निन्दा कर आचार्य इन्द्रियों में संयम करने की प्रेरणा देते हैं।

कविवर द्यानतरायजी ने भी उपर्युक्त कथनों का समर्थन करते हुए अपने काव्य में इन्द्रिय सुख को हेय बताकर इन्द्रिय संयम की बात जगह–जगह कहीं है –

तू तो समझ समझ रे भाई।। टेक।।
निशिदिन विषयभोग लपटाना, धरम वचन न सुहाई।। टेक।।[4]

पंच–इन्द्रियों से मन को हटाने की बात करते हुए वे कहते हैं –

पंच परावर्तन लखि लीजै।
पाँचौ इन्द्री कौं न पतीजै।।
द्यानत पाँचौं लखि लहीजै।
पंच परमगुरु सरन गहीजै।।[5]

इन्द्रियों को चंचल बताते हुए वे लिखते हैं कि –

इन्द्री पंचसु विषयनि दौरै, मानै कह्या न कोई।
साधारन चिरकाल वस्यौ मैं, धरम बिना फिर सोई।।[6]

इन्द्रिय विषयों को विषफल बताते हुए लिखते हैं –

इन्द्री विषै विषै फलधार।
मीठे लगैं अंत खयकार।।[7]

विषय–भोगों में लगे रहने से जीव आत्मकल्याण नहीं कर पाता है। इसकी पुष्टि करते हुए सुबोधपंचासिका में लिखते हैं –

जरापने जो दुख सहे, सुन भाई रे।
सो क्यों भूले तोहि, चेत सुन भाई रे।।
जो तू विषयों से लगा, सुन भाई रे।
आतम सुधि नहिं तोहि, चेत सुन भाई रे।। 21 ।।[8]

इस प्रकार द्यानतरायजी ने आत्मकल्याण के लिए इन्द्रिय संयम की

आवश्यकता पर जोर दिया है क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में सुख नहीं, सुखाभास है।

(2) मन संयम की आवश्यकता–मन को बहुत ही चंचल बताया गया है, मन को जो रुचिकर लगता हैं, वह उधर ही चला जाता है। मन की पवित्रता की बात प्रायः सभी दर्शनों, धर्मों ने कही है। मन को वश में करके ही हम आत्मकल्याण कर पाते हैं। जो मन को संयमित कर लेता है, वह ही आत्मा को प्राप्त कर पाता है।

उत्तम क्षमाधर्म के अर्घ्य में द्यानतरायजी लिखते हैं कि –

गाली सुनि मन खेद न आनो, गुन को औगुन कहै अयानो।[9]

अर्थात् मन इतना पवित्र होना चाहिए कि यदि कोई गाली दे, अपने गुणों को अवगुण बताये तो भी उसके प्रति द्वेषभाव नहीं आवें, वही मन का संयम है।

आर्जव धर्म के अर्घ्य में भी वे लिखते हैं –

मन में होय सो वचन उचरिये,
वचन होय सो तन सौ करिये।।[10]

अर्थात् मन इतना पवित्र होना चाहिए कि जो हमारे मन में हो, उसे वचनों से कहना चाहिए और जो वचन से कह रहे हैं उसे तन से करना चाहिए। मन को जब तक स्थिर नहीं करेंगे, तब तक आत्मध्यान की अवस्था नहीं आ सकती है। अतः आत्मध्यान के लिए मन को स्थिर करना अर्थात् संयमित करना आवश्यक है। जैसा कि द्यानतरायजी लिखते हैं –

मन वच काय जोग थिर करकै, ज्ञान समाधि लगाऊँगा।
कब हौं क्षपक श्रेणि चढि ध्याऊं, चारित मोह नशाऊँगा।।[11]

अर्थात् जब तक मनायोग, वचनयोग और काययोग को स्थिर नहीं किया जायेगा, तब तक ज्ञान समाधि अर्थात् आत्मानुभव नहीं हो सकता। मन की चंचलता के विषय में वे लिखते हैं कि –

कहिवे को मन सूरमा, करवे को काचा।
विषय छुड़ावै और पै, आपन अति माचा।।1।।[12]

मन को संयमित रखने की प्रेरणा देते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं –

जिन नाम सुमरि मन बाबरे, कहा इत उत भटके।
विषय प्रगट विष बेल है, इनमें मत अटके।।
दुरलभ नरभव पाय के नगसो मत पटकैं।

फिर पीछै पछतायगा, अवसर जब सटकैं।।
एक घड़ी है सफल जौ प्रभु–गुण रस गटकें।
कोटि वरष जीवो वृथा जो थोथा फटकैं।।
द्यानत उत्तम भजन है कीजैं मन रटकै।
भव मन के पातक सबै जैहै तो कटकैं।।निज।। [13]

इस प्रकार द्यानतरायजी ने ईश्वर आराधना, आत्म–अनुभव के लिए मन संयम को आवश्यक माना है।

(3) प्राणी रक्षा की बात–जैनदर्शन में जीवों को दो प्रकार से विभाजित किया है (1) संसारी तथा (2) मुक्त। [14] उनमें संसारी जीवों के दो भेद किये है (1) त्रस, (2) स्थावर जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय में लिखा है –

संसारिणस्त्रस स्थावराः।।12।।

उनमें दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक के जीव त्रस जीव कहलाते हैं।[15] एक इन्द्रिय जीव जैसे कि 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः' अर्थात् पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक ये स्थावर जीव कहलाते हैं।

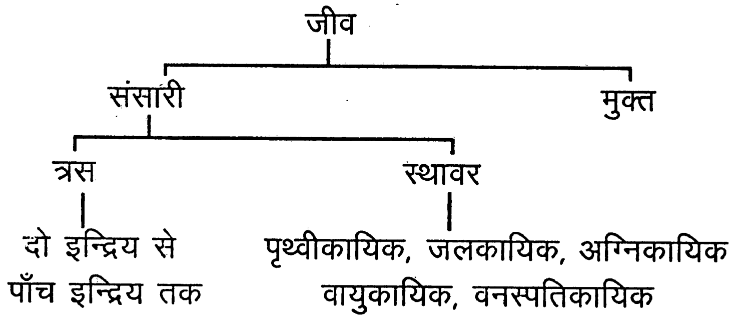

द्यानतरायजी ने उपर्युक्त दोनों त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा की बात जगह–जगह पर की है। जैसा कि –

दोज दुभेद सिद्ध संसार, संसारी त्रस थावर धार।
सुपर दया दोनों मन धरौ, राग–दोष तजि समता करौ।।2।।[16]

(4) अन्तरंग एवं बाह्यशुद्धि का वर्णन – द्यानतरायजी आत्मानुभव के लिए जहाँ अन्तरंग शुद्धि (पवित्रता) के पक्षधर थे, वहीं व्यवहार धर्म के भी पक्षधर थे। उनके अनुसार बाह्य में जैन धर्मानुकूल आचरण मोक्षार्थी

(मुमुक्षु) के लिए परम आवश्यक है। क्योंकि बाह्य में देव–गुरु–धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होगी, उनकी स्तुति–वन्दना नहीं होगी तो अन्तरंग शुद्धि सम्भव नहीं है। अन्तरंग शुद्धि का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं –

आतम अनुभव करना रे भाई।।
जब लौ भेद–ज्ञान नहिं उपजै, जनम–मरण दुख भरना रे।।1।।
आगम पढ़ नव तत्त्व बखाने, व्रत तप संजम धरना रे।
आतम ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी संकट परना रे।।2।।
सकल ग्रन्थ दीपक है भाई, मिथ्या तम को हरना रे।
कहा करैं ते अन्ध पुरुष को, जिन्हैं उपजना मरना रे।।
द्यानत जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
'सोऽहं' ये दो अक्षर जपकै, भव–जल पार उतरना रे।।[17]

द्यानतराय जी अन्तरंग में उत्पन्न होनेवाले राग–द्वेष भावों को भी आत्मा से पृथक् मानते हैं और आत्मा को राग–द्वेष विभाव भावों से रहित शुद्धतत्त्व स्वीकार करते हुए लिखते है –

अब हम अमर भये न मरेंगे।।टेक।।
तन कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे। अब।
उपजै मरै काल तैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे।
राग–द्वेष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करैंगे।।
देह विनाशी मैं अविनाशी, भेद–ज्ञान पकरैंगे।
नासी जासी हम थिर वासी, चोखे हो निखरैंगे।।
मरे अनन्तबार बिन समझे, अब सुख दुख बिसरेंगे।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरें सुमरेंगे।।[18]

बाह्यशुद्धि का वर्णन – द्यानतरायजी ने बाह्यशुद्धि के अन्तर्गत जीव की देव–गुरु–धर्म के प्रति श्रद्धा एवं श्रावक धर्म का अनुपालन तथा मुनि धर्म की चर्चा की है। जैसा कि वे लिखते हैं –

रे जिय! जनम लाहो लेह।।टेक।।
चरन ते जिन भवन पहुँचे, दान दै कर जेह।। रे जिय।।
उर सोई जामैं दया है, अरु रुधिर को गेह।
जीभ सो जिन नाम गावैं, साँच सौ करै नैह।। रे जिय।।
आँख ते जिनराज देखैं, और आँखैं खोह।

श्रवन ते जिन वचन सुनि, शुभ तप तपै सो देह।। रे जिय।।
सफल तर इह भाँति है है, और भाँति न केह।
ह्वै सुखी मन राम ध्यावो, कहैं सद्गुरु येह।। रे जिय।।[19]

द्यानतरायजी ने शरीर को अशुचि बताकर परमात्मा को श्रेयस्कर बताया है –

घट में परमातम ध्याइवे हो, परम धरम धन हेत।
ममता बुद्धि निवारिये हो, टारिये भरम निकेत।। घट।।
प्रथमहि अशुचि निहारिये हो, सात धातुमय देह।
काल अनन्त सहै दुख जानै, तक्कौ तजो अब नेह।। घट।।
ज्ञानावरणादिक जमरूपी, जिनतैं भिन्न निहार।
रागादिक परनति लख न्यारी, न्यारो सुबुध विचार।
तहाँ शुद्ध आतम निर विकल्प ह्वै, करि तिसको ध्यान।।
अलप काल में घाति नसत हैं, उपजत केवलज्ञान।। घट।।
चार अघाति नाशि शिव पहुँचे, विलसत सुख जु अनन्त।
सम्यक् दरशन की यह महिमा, 'द्यानत' लह भव अन्त।। घट।।[20]

तप का महत्त्व बताते हुए वे समाधि धारण करने की प्रेरणा देते हैं –

ऐसो सुमरन कर मोरे भाई, पवन थमै मन कितहुँ न जाई।। टेक।।
परमेसुर सो साँच रही जे, लोक रंजना भय तप दीजै।। ऐसो।।
जप अरु नेम दोउ विधि धारै, आसन प्राणायाम संमापे।
प्रत्याहार धारना कीजै, ध्यान समाधि महारस पीजै।। ऐसो.।।
सो तप तपो बहुरि नहि तपना, जो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना।। ऐसो।।
पंच परावर्तन लखि लीजै, पाँचों इन्द्री की न पतीजै।
द्यानत पाँचों लच्छि लहीजै, पंच परम गुरु शरन गहीजै।। ऐसो।।[21]

इस प्रकार द्यानतरायजी ने अपने काव्य में अन्तरंग एवं बाह्यशुद्धि का वर्णन किया है।

(5) दशधर्म का वर्णन– आत्मा क्रोधादि कषायरूप परिणमित न हो और अपने स्वभाव में स्थिर रहे, यही उत्तम क्षमादिरूप धर्म है। इस प्रकार उत्तमक्षमादिरूप धर्म कहने से भी शुद्धचेतना के परिणामरूप धर्म ही सिद्ध

होता है; क्योंकि उसमें चेतना के परिणामों को पुण्य–पाप से छुड़ाकर ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर करना कहा है। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, मेरे ज्ञान में कोई परद्रव्य इष्ट–अनिष्ट नहीं है।

धर्म का स्वरूप दशलक्षण रूप है। इन दश चिह्नों के द्वारा अंतरंग धर्म जाना जाता है। उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिंचन्य, उत्तमब्रह्मचर्य–ये दश धर्म के लक्षण हैं।

धर्म तो वस्तु का स्वभाव है, स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। लोक में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने–अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं। यदि स्वभाव का नाश हो जाये तो वस्तु का अभाव हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता है।

आत्मा एक पदार्थ है, उसका स्वभाव क्षमादि रूप है। क्रोधादि कर्मजनित उपाधि है, आवरण है। क्रोध नाम की कर्म की उपाधि का अभाव होने पर क्षमा नाम का आत्मा का स्वभाव स्वयं ही प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार मान के अभाव से मार्दव गुण, माया के अभाव से आर्जव गुण, लोभ के अभाव से शौच गुण इत्यादि जो आत्मा के गुण हैं, वे कर्म के अभाव से स्वयमेव प्रकट होते हैं। जो ये उत्तम क्षमादि आत्मा के स्वभाव हैं; वे मोहनीय कर्म के भेद क्रोधादि कषायों द्वारा अनादिकाल से आच्छादित हो रहे हैं। कषायों के अभाव से क्षमादि आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रोधादि का नहीं होना ही उत्तम क्षमादि धर्म है।

उपर्युक्त दशधर्मों का वर्णन द्यानतराय ने इस प्रकार किया है –

(1) उत्तम क्षमा धर्म – क्रोध बैरी का जीतना वहीं उत्तम क्षमा धर्म है।[22] क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो क्रोध के अभावरूप शान्ति–स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी क्षमा कहते हैं।[23] अर्थात् आत्मा में क्रोध कषाय के अभावरूप जो पर्याय प्रगट होती है, वही उत्तम क्षमा धर्म कहलाता है। द्यानतरायजी ने भी अपने काव्य में उत्तम क्षमा धर्म का वर्णन इसी प्रकार किया है –

पीडैं दुष्ट अनेक, बाँध मार बहुविधि करैं।
धरिये छिमा विवेक, कोप न कीजै पीतमा।।
उत्तम छिमा गहो रे भाई, इह–भव जस पर भव सुखदाई।
गाली सुनि मन खेद न आनो, गुन को औगुन कहै अयानो।।

कहि है अयानो वस्तु छीनै, बाँध मार बहुविधि करै।
घर तैं निकारै तन विदारै, वैर जो न तहाँ धरै।।
ते करम पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा।
अति क्रोध–अगनि बुझाय प्रानी, साम्य–जल ले सीयरा।।[24]

(2) उत्तम मार्दव धर्म – 'मृदोर्भावः मार्दवम्' मृदुता कोमलता का नाम मार्दव है अर्थात् आत्मा और मान कषाय के भेद को अनुभव करके मान को छोड़ना उसका नाम मार्दव गुण है।

मार्दव धर्म में मान कषाय को बुरा बताते हुए कविवर लिखते हैं –

मान महाविषरूप, करहि नीच–गति जगत में।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावै प्रानी सदा।।
उत्तम मार्दव गुन मन माना, मान करन कौ कौन ठिकाना।
बस्यो निगोद माहिं तैं आया, दमरी रूंकन भाग बिकाया।।
रूंकन बिकाया भाग वशतै, देव इक–इन्द्री भया।
उत्तम मुआ चण्डाल हूवा, भूप कीड़ों में गया।।
जीतव्य–जोवन धन गुमान, कहा करैं जल बुदबुदा।
करि विनय बहु गुन बड़े जन की, ज्ञान का पावै उदा।।[25]

(3) उत्तम आर्जव धर्म – 'ऋजोर्भावः आर्जवम्' ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है अर्थात् मन–वचन–काय की कुटिलता का अभाव वह आर्जव है। आर्जव धर्म पाप का खण्डन करनेवाला है तथा सुख उत्पन्न करनेवाला है। द्यानतराय भी उपर्युक्त का समर्थन करते हुए लिखते हैं –

कपट न कीजै कोय, चोरन के पुर ना बसै।
सरल सुभावी होय ताके घर बहु सम्पदा।।
उत्तम आर्जव रीति बखानी, रंचक दगा बहुत दुखदानी।
मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सौं करिये।।
करिये सरल तिहुँ जोग अपने देख निरमल आरसी।
मुख करै जैसा लखै तैसा, कपट–प्रीति अँगार–सी।।
नहिं लहै लछमी अधिक छल करि, करम–बन्ध विशेषता।
भय त्यागि दूध बिलाव पीवै, आपदा नहिं देखता।।[26]

(4) उत्तम शौच धर्म–'शुचेर्भावः शौचम्' शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। शौच के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का

सूचक है। परमागम का अनुभव करके अंतरंग मिथ्यात्व कषायादि मल का धोना, वह शौच धर्म है।

शुचिता अर्थात् पवित्रता की बात करते हुए कवि द्यानतराय लिखते हैं –

धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देह सों।
शौच सदा निर्दोष, धरम बड़ो संसार में।।
उत्तम शौच सर्व जग जाना, लोभ पाप को बाप बखाना।
आशा–पास महा दुःखदानी, सुख पावै सन्तोषी प्रानी।।
प्रानी सदा शुचि शील जप तप, ज्ञान ध्यान प्रभावतैं।
नित गंग जमुन समुद्र न्हाये, अशुचि–दोष स्वभावतैं।।
ऊपर अमल मल भर्‌यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै।
बहु देह मैली सुगुन थैली, शौच–गुन साधु लहै।।[27]

(5) उत्तम सत्य धर्म– उत्तम सत्य अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग भाव है। सत्य वचन की विशेषता बताते हुए कविवर द्यानतराय लिखते हैं कि –

कठिन वचन मति बोल, पर–निन्दा अरु झूठ तज।
साँच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी।।
उत्तम सत्य बरत पालीजै, पर विश्वासघात नहिं कीजै।
साँचे–झूठे मानुष देखो, आपन पूत स्वपास न पेखो।।
पेखो तिहायत पुरुष साँचे को, दरब सब दीजिये।
मुनिराज–श्रावक की प्रतिष्ठा, साँच गुण लख लीजिये।।
ऊँचे सिंहासन बैठि वसु नृप, धरम का भूपति भया।
वच झूठ सेती नरक पहुँचा, सुरग में नारद गया।।[28]

(6) उत्तम संयम धर्म–'संयमनं संयमः' अथवा व्रत समिति–कषाय–दण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः।[29]

पाँच समितियों का पालन, क्रोध–मन–माया–लोभ इन चार कषायों का निग्रह करना, मन–वचन–काय की अशुभ प्रवृत्ति – ये तीन दण्ड हैं। इन दण्डों का त्याग करना तथा विषयों में दौड़ने वाली पाँच इन्द्रियों को वश में करना–जीतना वह संयम है।

कविवर द्यानतराय ने संयम का वर्णन इस प्रकार किया है –

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय मन वश करो।
संजम–रतन सँभाल, विषय–चोर बहु फिरत हैं।।

उत्तम संजम गहु मन मेरे, भव–भव के भाजें अघ तेरे।
सुरग–नरक पशुगति में नाहिं, आलस–हरन करन सुख ठाहीं।।
ठाहीं पृथी जल आग मारुत, रूख त्रस करुना धरो।
सपरसन रसना घ्रान नैना, कान मन सब वश करो।।
जिस बिना नहीं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीच में।
इक घरी मत विसरो करो नित, आव जम–मुख बीच में।।[30]

(7) उत्तम तप धर्म– इच्छा का निरोध करना वह तप है।[31] तप चार आराधनाओं में प्रधान है। जैसे स्वर्ण को तपाने से सोलह बार पूर्ण उष्णता देने पर वह समस्त मैल छोड़कर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी बारह प्रकार के तपों के प्रभाव से कर्ममल रहित होकर शुद्ध हो जाता है।[32]

समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व स्वरूप में प्रतपन करना–विजयन करना तप है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में – अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है।[33]

कवि द्यानतराय ने तप धर्म का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है –

तप चाहैं सुरराय, करम–शिखर को वज्र है।
द्वादशविधि सुखदाय, क्यों न करै निज सकति सम।।
उत्तम तप सब माहिं बखाना, करम शैल को वज्र समाना।
बस्यो अनादि निगोद मँझारा, भू विकलत्रय पशु तन धारा।।
धारा मनुष तन महादुर्लभ, सुकुल आयु निरोगता।
श्री जैनवानी तत्त्वज्ञानी, भई विषय–पयोगता।।
अति महा दुरलभ त्याग विषय, कषाय जो तप आदरैं।
नर–भव अनूपम कनक घर पर, मणिमयी कलसा धरैं।।[34]

(8) उत्तम त्याग धर्म – निज शुद्धात्म के ग्रहण पूर्वक बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति त्याग धर्म है। जैसा कि कहा है –

निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः।[35]

इसी बात को बारस–अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) में इस प्रकार कहा गया है –

णिव्वेगतियं भवाइ योहं चइऊण सव्व दव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।।78।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सम्पूर्ण परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीनरूप परिणाम रखता है, उसके त्यागधर्म होता है।

कवि द्यानतराय ने निश्चय और व्यवहार त्याग धर्म का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है –

दान चार परकार, चार संघ को दीजिए।
धन बिजुली उनहार, नर–भव लाहो लीजिए।।
उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषध शास्त्र अभय आहारा।
निहचै राग–द्वेष निरवारै, ज्ञाता दोनों दान सँभारै।।
दोनों सँभारे कूप–जल सम, दरब घर में परिनया।
निज हाथ दीजे साथ लीजे, खाय खोया बह गया।।
धनि साधु शास्त्र अभय दिवैया, त्याग राग विरोध को।
बिन दान श्रावक साधु दोनों, लहैं नाहीं बोध को।। [36]

(9) आकिंचन्य धर्म– ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को छोड़कर किंचित्मात्र भी परपदार्थ तथा पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह–राग–द्वेष के भाव आत्मा के नहीं हैं – ऐसा जानना, मानना और ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के आश्रय से उनसे विरत होना, उन्हें छोड़ना ही उत्तम आकिंचन्य धर्म है। [37] रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आकिंचन्य धर्म को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है।

अपने ज्ञान दर्शनमय स्वरूप के बिना अन्य किंचित्मात्र भी मेरा नहीं हैं, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ– ऐसे अनुभव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

द्यानतराय ने आकिंचन्य धर्म का स्वरूप इस प्रकार बताया है –

परिग्रह चौबिस भेद, त्याग करैं मुनिराजजी।
तिसना भाव उछेद, घटती जान घटाइए।।
उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रह चिन्ता दुख ही मानो।
फाँस तनक–सी तन में सालै, चाह लँगोटी की दुख भालै।।
भालै न समता सुख कभी नर, बिना मुनि मुद्रा धरै।
धनि नगन तन पर नगन ठाड़े, सुर–असुर पायनि परैं।।
घरमाहिं तिसना जो घटावै, रुचि नहीं संसार सौं।
बहु धन बुरा हू भला कहिये, लीन पर–उपगार सौं।। [38]

(10) उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म – ब्रह्म अर्थात् निजशुद्धात्मा में चरना–रमना ही ब्रह्मचर्य है। जैसा कि 'अनगार धर्मामृत' में कहा है –

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्तिः।
तद् ब्रह्मचर्य व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्।।8/60।।

ब्रह्मचर्य का स्वरूप 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में इस प्रकार दिया है –

आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यां पर –
स्वांगसंग– विवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः।।

यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा कहा गया है। उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर से निर्ममत्व हो गया, उसी के वास्तविक ब्रह्मचर्य होता है।

द्यानतराय ने भी ब्रह्मभाव को अन्तर में देखने की बात कही है –

शील–बाढ़ नौ राख, ब्रह्म–भाव अन्तर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नर–भव सदा।।
उत्तम ब्रह्मचर्य मन आनौ, माता बहिन सुता पहिचानौ।
सहैं बान–बरषा बहु सूरे, टिकै न नैन–बान लखि कूरे।।
कूरे तिया के अशुचि तन में, काम–रोगी रति करैं।
बहु मृतक सड़हि मसान माहीं, काग ज्यों चोंचैं भरैं।।
संसार में विष–बेल नारी तजि गये जोगीश्वरा।
द्यानत धरम दश पैड़ि चढ़ि कैं, शिव–महल में पग धरा।।[39]

दशलक्षण पूजन की जयमाला में द्यानतराय ने बड़े ही रोचक ढंग से दशों धर्मों का वर्णन संक्षिप्त, लेकिन सारगर्भितरूप से किया है। उनकी इसी विशेषता के कारण उनकी दशलक्षण पूजन जैन समाज में विशेष रूप से लोकप्रिय है।

दशलक्षण जयमाला

दश लच्छन वन्दौं सदा, मनवांछित फलदाय।
कहों आरती भारती, हम पर होहु सहाय।।
उत्तम छिमा जहाँ मन होई, अन्तर–बाहिर शत्रु न कोई।
उत्तम मार्दव विनय प्रकासै, नानाभेद ज्ञान सब भासै।।
उत्तम आर्जव कपट मिटावै, दुरगति त्यागि सुगति उपजावै।
उत्तम सत्य–वचन मुख बोलै, सो प्रानी संसार न डोलै।।

उत्तम शौच लोभ–परिहारी, सन्तोषी गुण–रतन भण्डारी।
उत्तम संयम पालै ज्ञाता, नर भव सफल करै ले साता।।
उत्तम तप निरवांछित पालै, सो नर करम–शत्रु को टालै।
उत्तम त्याग करै जो कोई, भोगभूमि–सुर–शिवसुख होई।।
उत्तम आकिंचन व्रत धारै, परम समाधि दशा विसतारे।
उत्तम ब्रह्मचर्य मन लावै, नर–सुर सहित मुकति–फल–पावै।।

(दोहा)

करै करम की निरजरा, भव पींजरा विनाशि।
अजर अमर पद को लहैं, द्यानत सुख की राशि।।

(6) सत्संग की चर्चा – द्यानतरायजी देव–शास्त्र–गुरु की संगति की ही वांछा रखते थे; क्योंकि ये ही सच्चे सुख को प्राप्त करने के साधन हैं। वे साधुजन की संगति के लिए इच्छा रखते हुए लिखते हैं –

मैं साधुजन को संग चाहूँ, प्रीति तिनहीं सों करौं।[40]

अर्थात् मैं सिर्फ साधुओं की ही संगति चाहता हूँ और उन्हीं से प्रीति करता हूँ।

इसी प्रकार देव की संगति की चाह में वे लिखते हैं –

मैं देव नित अरहंत चाहूँ, सिद्ध का सुमिरन करौं।
मैं सूर गुरु मुनि तीन पद ये, साधु पद हिरदय धरौं।।
मैं धर्म करुणामयी चाहूँ, जहाँ हिंसा रंच ना।
मैं शास्त्र ज्ञान विराग चाहूँ, जासु में परपंच ना।।[41]

अर्थात् मैं देवों में अरहंत को हमेशा चाहता हूँ तथा सिद्धों का स्मरण करता हूँ, मैं गुरुओं में आचार्य, उपाध्याय एवं साधु को हृदय में धारण करता हूँ, मैं करुणामयी धर्म की इच्छा रखता हूँ, जहाँ रंच भी हिंसा नहीं है। मैं वीतरागी शास्त्रों की कामना करता हूँ, जिनमें कि किसी प्रकार का भ्रम नहीं है।

वे गुरु के समान उपकारी किसी को भी स्वीकार नहीं करते हैं। अतः वे हमेशा गुरु का सान्निध्य प्राप्त करने की वांछा रखते हुए लिखते हैं–

गुरु समान दाता नहिं कोई।। टेक।।
भानु प्रकाश न नाशत जाको, सो अँधियारा डारै खोई।
मेघ समान सबन पै बरसै, कछु इच्छा जाकै नहिं होई।।

नरक पशूगति आग माहिंतैं, सुरग मुकत सुख थापै सोई।
तीन लोक मंदिर में जानो, दीपक सम परकाशक लोई।।
दीप तलैं अँधियार भर्‌यौ है अंतर बहिर विमल है जोई।
तारन तरन जिहाज सुगुरु है, सब कुटुम्ब डोवै जगतोई।।
द्यानत निशिदिन निरमल मन में राखो गुरुपद पंकज दोई।।4।।[42]

चूँकि द्यानतरायजी शैली से जुड़े हुए थे, जहाँ उन्हें देव–गुरु–धरम की पहचान हुई और शैली के संगत से ही धर्म में रुचि लगी। इसलिए ही उन्होंने लिखा है –

सैली जयवंती यह हूजो।।टेक।।
शिवमारग को राह बतावै और न कोई दूजो।।सैली।।
देव धरम गुरु सांचै जानै झूठो मारग त्यागो।
सैली के परसाद हमारो, जिन चरनन चित्त लाग्यो।।
दुख चिरकाल सह्यौ अति भारी, सो अब सहज बिलायो।
दुरित तरन दुख हेरन मशोहर, धरम पदारथ पायो।।
'द्यानत' कहै सकल सन्तन को, नित प्रति प्रभुगुन गायो।
जैन धरम परधान ध्यान सौं, सबही शिवसुख पावौ।।सैली।।[43]

शैली की महिमा गाते हुए वे लिखते हैं कि –

ज्ञानवान जैनी सबै, बसै आगरे माहिं।
साधर्मी संगति मिले, कोई मूरख नाहिं।।[44]

भवसागर को पार करने में सत्संगति की आवश्यकता पर वे लिखते हैं कि –

वह गुरु हों मम संयमी, देव जैन हो सार।
साधर्मी संगति मिलो, जब लो हो भव पार।।

इस प्रकार द्यानतराय ने धर्म की प्राप्ति में साधक गुरु, मित्र, शास्त्र, देव आदि की संगति को ही सत्संगति कहा है, जो विषय–कषाय में लगाये, वह संगति के योग्य नहीं है।

(7) बाह्याडम्बर विरोध– द्यानतरायजी आत्मोन्मुखी कवि थे, जिसके कारण उन्हें आत्मा की चर्चा ही रुचती थी। उनके अनुसार आत्मा को प्राप्त करने का एकमात्र साधन आत्मा की आन्तरिक प्रवृत्ति ही काम आती है। वहाँ

क्रियाकाण्ड एवं आडम्बर का कहीं भी स्थान नहीं है। अतः उन्होंने अपने काव्य में बाह्य आडम्बर का विरोध किया। जैसा कि उन्होंने लिखा है कि –

तू तो समझ समझ रे भाई।। टेक।।
निशिदिन विषयभोग लपटाना, धरम वचन न सुहाई।।
कर मनका ले आसन मार्‌यो, बाहिज लोक रिझाई।
कहा भयो बक ध्यान धरे तै, जो मन थिर न रहाई।।
मास मास उपवास किये तै, काया बहुत सुखाई।
क्रोध मान छल लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई।।
मन वच काय जोग थिर करके, त्यागो विषय कषाई।
'द्यानत' सुरग मोक्ष सुखदाई, सतगुरु सीख बताई।।[45]

उपर्युक्त पद में द्यानतरायजी ने आडम्बरी जीव को फटकार लगाते हुए कहा है कि हे जीव! तू प्रतिदिन विषयभोग में मस्त रहकर धर्म के वचन को नहीं सुनता है, हाथ में माला का मनका फेरकर लोगों को रिझाया है। बगुले की तरह ध्यान लगाने से क्या फायदा, यदि मन को स्थिर नहीं किया तो और क्या फायदा महिनों उपवास कर शरीर को सुखाने से, यदि क्रोध, मान, माया, लोभ को नहीं जीता तो सब व्यर्थ है। इसलिए मन–वचन–काय को स्थिर कर विषयों को त्यागकर मोक्षसुख को प्राप्त करो।

इसी तरह आन्तरिक शुद्धि न कर बाह्य क्रिया–कलापों में मस्त रहनेवाले जीवों को इन शब्दों में उपदेश दिया है।

जिया तैं आतमहित नहिं कीना।।
रामा रामा धन धन कीना, नरभव फल नहिं लीना।
जप तप करके लोक रिझाये, प्रभुता के रस भीना।।
अन्तर्गत परनाम न सोधे, एकौ गरज सरौ ना।
बैठि सभा में बहु उपदेशे, आप भये परवीना।।
ममता डोरी तोरी नाही, उत्तम तै भये हीना।
द्यानत मन वच काय लायके, निज अनुभव चितदीना।
अनुभव धारा ध्यान विचारा, मंदर कलश नवीना।।[46]

उपर्युक्त पद में द्यानतरायजी कहते हैं कि हे जीव! तूने आत्मकल्याण तो किया नहीं और राम–राम, धन–धन करके मनुष्यभव को व्यर्थ गँवाया, जप तप करके लोगों को रिझाकर, स्वामित्व में रस लिया। अन्तरंग परिणाम

तो नहीं सम्भाले और न ही एक भी काम किया, सभा में बैठकर उपदेश बहुत दिये, किन्तु स्वयं में परिवर्तन नहीं आया, परद्रव्यों में ममत्व करके उत्तम से हीन हो गये, अन्त में द्यानतराय कहते हैं कि मन–वच–काय को स्थिर कर आतम अनुभव करना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्यानतरायजी को बाह्य आडम्बर पसन्द नहीं था, वे तो अध्यात्म को ही आत्मकल्याण का साधक मानते थे।

(8) **व्यवहार साधना मार्ग** – साधना मार्ग को दो तरह से विभाजित किया जाता है – (1) व्यवहार साधना मार्ग और (2) निश्चय साधना मार्ग। व्यवहार साधना मार्ग के अन्तर्गत व्रत, शील, संयम, देव–शास्त्र–गुरु के प्रति भक्तिभाव इत्यादि आते हैं। द्यानतरायजी ने व्यवहार साधना मार्ग के अन्तर्गत देव–शास्त्र–गुरु के प्रति भक्ति एवं व्रत, शील, संयम का वर्णन जगह–जगह किया है। द्यानतरायजी की प्रसिद्ध पूजनें व्यवहार साधना मार्ग का ही उदाहरण हैं।

देव की आराधना करते हुए वे लिखते हैं –

पूजा परम जिनराज चाहूँ, और देव नहीं कदा।
तिहुँकाल की मैं जाप चाहूँ, पाप नहिं लागे कदा।।

इसी प्रकार तप, व्रत का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

भावना बारह जु भाऊँ, भाव निरमल होत हैं।
मैं व्रत जु बारह सदा चाहूँ, त्याग भाव उद्योत हैं।।
प्रतिमा दिगम्बर सदा चाहूँ, ध्यान आसन सोहना।
वसुकर्म तैं मैं छुटा चाहूँ, शिव लहूँ जहँ मोह ना।।
मैं साधुजन को संग चाहूँ, प्रीति तिनहीं सों करौं।
मैं पर्व के उपवास चाहूँ, आरम्भ मैं सब परिहरौं।।[47]

देव–शास्त्र–गुरु के प्रति भक्तिभाव व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं –

प्रथम देव अरहंत सुश्रुत सिद्धान्त जू।
गुरु निरग्रंथ महंत मुकतिपुर–पंथ जू।।
तीन रतन जगमाहिं सु ये भवि ध्याइये।
तिनकी भक्ति–प्रसाद परम पद पाइये।।[48]

चौबीस तीर्थंकर को मोक्षदाता बताते हुए वे लिखते हैं –

भुक्ति मुक्ति दातार, चौबीसों जिनराजवर।
तिन पद मन–वच धार, जो पूजै सो शिव लहै।।[49]

बाह्य में परिग्रह के त्याग की बात बताते हुए वे लिखते हैं कि –

परिग्रह चौबिस भेद, त्याग करैं मुनिराजजी।
तिसना भाव उछेद, घटती जान घटाइए।।[50]

इसी प्रकार शील धारण करने की प्रेरणा देते हुए वे लिखते हैं –

शील–बाढ़ नौ राख, ब्रह्म–भाव अन्तर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नर–भव सदा।।[51]

तप को धारण करने की बात बताते हुए वे लिखते हैं –

तप चाहैं सुरराय, करम शिखर को वज्र है।
द्वादशविधि सुखदाय, क्यों न करै निज सकति सम।। [52]

परमात्मा का नाम जपने से ही सारे पाप क्षीण हो जाते हैं। परमात्मा का नाम स्मरण करने से ही असीम सुख की अनुभूति होती है। इसका वर्णन करते हुए वे लिखते हैं –

रे मन भज भज दीन दयाल।
जाके नाम लेत इक खिन में, कटैं कोटि अघ जाल।। रे मन.।।
पार ब्रह्म परमेश्वर स्वामी, देखत होत निहाल।
सुमरण करत परम सुख पावत सेवत भाजै काल।। रे मन.।।
इन्द्र फणिंद्र चक्रधर गावैं जाको नाम रसाल।
जाके नाम ज्ञान प्रकालै। नासै मिथ्या चाल।। रे मन.।।
जाके नाम समान नहीं कछु ऊरध मध्य पताल।
सोई नाम जपौं नित द्यानत, छांडि विषै विकराल।। रे मन.।।[53]

(9) निश्चय साधना का मार्ग – निश्चय साधना मार्ग के अन्तर्गत शुद्धात्मा की चर्चा आती है। द्यानतरायजी आध्यात्मिक कवि हैं, अतः उन्होंने अपने काव्य में निश्चय साधना को विशेष स्थान दिया है। जैसा कि –

मोहि कब ऐसा दिन आय है।। टेक।।
सकल विभाव अभाव होंहिगे, विकलपता मिट जाय है।
यह परमातम यह मम आतम, भेद बुद्धि न रहाय है।।
औरन की क्या बात चलावै, भेदविज्ञान पलाय है।
जानैं आप आप में आपा, सो व्यवहार विलाय है।।
नय प्रमाण निक्षेपन माहीं, एक न औसर पाय है।

दर्शन ज्ञान चरन के विकलप, कहो कहाँ ठहराय है।
द्यानत चेतन चेतन है है, पुद्गल पुद्गल थाय है।।[54]

राग–द्वेष परिणामों को पुद्गल की सन्तान बताते हुए निश्चय शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार की बात बताते हुए लिखते हैं।

जानत क्यों नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी।। टेक।।
रागदोष पुद्गल की संगात, निहचै शुद्ध निशानी।
जाय नरक पशु नर सुर गति में, ये परजाय विरानी।
सिद्ध–स्वरूप सदा अविनाशी, जानत विरला प्रानी।।
कियो न काहू हरै न कोई, गुरु शिख कौन कहानी।
जनम–मरन–मलरहित अमल है, कीच बिना ज्यों पानी।
सार पदारथ है तिहुं जगमें, नहिं क्रोधी नहिं मानी।
द्यानत सो घटमाहिं विराजै, लख हूजै शिवधानी।।[55]

निश्चय से शुद्धात्मा को जानकर सारे भेद विकल्प मिटाने के लिए वे लिखते हैं –

मगन रहु रे! शुद्धातम में मगन रहु रे।। टेक।।
राग दोष पर को उतपात, निहचै शुद्ध चैतना जात।। मगन।।
विधि निषेध को खेद निवारि, आप आप में आप निहारि।
बंध मोक्ष विकलप करि दूर, आनंदकंद चिदातम सूर।।
दरसन ज्ञान चरन समुदाय, द्यानत ये ही मोक्ष उपाय।। मगन।।[56]

सुख दुख के विषय में इस जीव की मिथ्या भ्रान्ति का निवारण निश्चयनय से बताते हुए वे लिखते हैं –

भाई! अब मैं ऐसा जाना।
पुद्गल दरब अचेत भिन्न हैं, मेरा चेतन बाना।
कलप अनन्त सहत दुख बीते, दुखकौ सुख कर माना।।
सुख दुख दोऊ कर्म अवस्था, मैं कर्मनतैं आना।
जहाँ भोर था तहाँ भई निशि, निशि की ठौर बिहाना।
भूल मिटी जिनपद पहिचाना, परमानन्द निधाना।।
गूँगे का गुड़ खांय कहै किमि, यद्यपि स्वाद पिछाना।
द्यानत जिन देख्या ते जानै, मेंडक हंस परवाना।। भाई।।[57]

निश्चय साधना की बात को स्वीकार करने की बात करते हुए वे लिखते हैं –

सुद्ध आतमा निहारि राग दोष टारि,
क्रोध मान बंक गारि लोभ भाव भानुरे।
पापपुन्यकौ विदारि सुद्धभाव कौं सँभारि।
मर्मभाव कौं विसारि पर्मभाव आनुरे।
चर्मदृष्टि ताहि जारि सुद्धदृष्टि कौं पसारि।
देह–नेह कौं निवारि सेत ध्यान ठानुरे।
जागि जागि सैन छारि भव्य–मोखकौ विहार।
एक वारके कहै हजार वार जानु रे।।[58]

इस प्रकार निश्चय साधना मार्ग के अन्तर्गत द्यानतराय ने राग–द्वेष का निषेध एवं शुद्धात्मा के ही दर्शन, मनन व चिन्तन की बात की है।

(10) सयोग केवली तथा जीवन मुक्त की स्थिति का वर्णन – द्यानतरायजी के आराध्य अरहंत और सिद्ध परमात्मा हैं, उन्होंने भी देव की सच्ची परीक्षा करके उनके प्रति असीम श्रद्धा एवं भक्ति दर्शायी है।

पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ हो जाने पर भी जो परमात्मा अभी शरीर से सहित हैं, चार घातिकर्मों का अभाव हो जाने से अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाने पर भी, चार अघातिकर्म विद्यमान होने से जिनका अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व आदि रूप सम्पूर्ण आत्मवैभव अभी प्रकट नहीं हुआ है; वे तेरहवें–चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवान, सकल परमात्मा सयोग केवली कहलाते हैं। इन्हीं को ही जीवन्मुक्त या भवमुक्त परमात्मा भी कहते हैं। इन्हें जीवन्मुक्त इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये परमौदारिक शरीर सहित होते हैं और मनुष्यलोक (ढाई द्वीप) में रहते हैं, इसलिए जीवन्मुक्त संसारी कहलाते हैं।

अरहन्त के गुण एवं स्वरूप की चर्चा कवि ने इसप्रकार की है –

एक ज्ञान केवल जिन स्वामी, दो आगम अध्यातम नामी।
तीन काल विधि परगट जानी, चार अनन्त चतुष्टय ज्ञानी।।
पंच परावर्तन परकासी, छहों दरब गुन परजय भासी।
सप्तभंगवानी परकाशक, आठों कर्म महारिपु नाशक।।
नव तत्त्वन के भाखन हारे, दश लच्छन सों भविजन तारे।

ग्यारह प्रतिमा के उपदेशी, बारहु सभा सुखी अकलेशी।।
तेरह विधि चारित के दाता, चौदह मारगना के ज्ञाता।
पन्द्रह भेद प्रमाद निवारी, सोलह भावन फल अविकारी।।[59]

जैनदर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश करके स्वयं परमात्मा बन सकता है। उस परमात्मा की दो अवस्थायें होती हैं–एक शरीरसहित जीवनमुक्त अवस्था और दूसरी शरीर रहित देहमुक्त अवस्था। प्रथम शरीरसहित जीवनमुक्त अवस्था ही सयोग केवली गुणस्थान कहलाता है। इस अवस्था में जीव यद्यपि परमात्म संज्ञा को प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु फिर भी वे तीनों योगों सहित होते हैं, इसलिए उन्हें सयोगी कहते हैं।[60] ज्ञान तथा दर्शन के समस्त आवरणों से रहित होते हैं, इसी कारण केवली कहलाते हैं।[61]

इस प्रकार जो योग सहित होते हुए केवली हैं, उन्हें सयोग केवली कहते हैं, पंचास्तिकाय की टीका में कहा गया है –

"भावमोक्षकेवलज्ञानोत्पत्तिजीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थ"[62]

अर्थात् भावमोक्ष, केवलज्ञानोत्पत्ति, जीवनमुक्ति और अरहन्तपद ये सब एकार्थभावी हैं।

जीव के गुणों का घात करनेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय – इन चार घातिया कर्मों से मुक्त हो जाने के कारण भावमोक्ष कहा जाता है। इन कर्मों से मुक्त होते ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है, जिसके फलस्वरूप वे आत्मा को, आत्मा से, आत्मा में अनुभव करने लगते हैं।

मन, वचन और काय सहित होते हुए भी मुक्त या परमात्मा होने के कारण उन्हें जीवनमुक्त कहा जाता है। मोहादि कर्मरूपी शत्रुओं का और जन्म–मरण का हनन कर देने के कारण अरहन्त कहा जाता है।

नियमसार में केवली को 'अबन्धक' कहा गया है, क्योंकि वे जानते और देखते हुए भी इच्छा वर्तन नहीं करते।[63]

बन्ध के पाँच कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,कषाय और योग) में से इस गुणस्थान में केवल अन्तिम कारण योग रह जाता है। योगजन्य क्रियायें भी बन्ध का कारण नहीं होतीं, क्योंकि बन्ध की कारणभूत राग–द्वेष जनित प्रवृत्ति, उन क्रियाओं में नहीं पायी जाती। योगजनित इन क्रियाओं

को ईर्यापथ कर्म कहा जाता है। ये क्रियाएँ यद्यपि गृहीत होती हैं, परन्तु संसार फल को उत्पन्न करने की शक्ति उनमें नहीं होती, इसी कारण उन्हें अगृहीत ही कहा जाता है। इन क्रियाओं से यद्यपि बन्ध होता है, परन्तु यह बन्ध दूसरे समय में ही नष्ट हो जाता है, इसी कारण इन्हें बद्ध होते हुए भी अबद्ध माना जाता है। समस्त आसक्तियों से रहित होने के कारण इन्हें, स्पृष्ट होते हुए भी अस्पृष्ट कहा जाता है। केवलज्ञान रूपी अग्नि में समस्त इच्छा–संकल्प आदि दग्ध हो जाते हैं; इसी कारण ये समस्त क्रियाएँ, दग्ध बीज के समान निर्बीज भाव को प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् पुनः फलोन्मुख होने की शक्ति उनमें नहीं रहती।[64]

यही कारण है कि ईयापथ कर्म होते हुए भी संयोगकेवली परमात्मा कहे जाते हैं।

जैन मतानुसार ऐसे जीवनमुक्त योगियों में केवल चार प्राण होते हैं – वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छवास। पाँच इन्द्रियाँ और मनोबल नहीं होता। इस गुणस्थान में समुद्घात के अन्तिम समय में योगनिरोध के कारण, वचन बल और श्वासोच्छवास का भी अभाव हो जाता है, केवल दो प्राण ही शेष रह जाते हैं।[65]

अन्य दर्शनों में जीवनमुक्ति

(1) उपनिषदों में जीवनमुक्ति – वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि शरीर का और ब्रह्मज्ञान का निषेध नहीं है, शरीर में रहते हुए भी उसे जाना जा सकता है।[66]

मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि जो ब्रह्म को जान लेता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है, वह शोक से तर जाता है, पाप को पार कर लेता है और हृदय ग्रन्थियों से विमुख होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।[67]

(2) गीता दर्शन में जीवनमुक्ति– गीता में जीवनमुक्त के लिए स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है; जो आत्मा में, आत्मा से सन्तुष्ट, दुःखों में अनुद्विग्न सुखों से निस्पृह और राग, द्वेष, भय, क्रोध आदि से दूर होता है।[68]

(3) बौद्धदर्शन में जीवनमुक्ति – बौद्ध दर्शन में जीवन मुक्ति के लिए 'उपाधिशेष निर्वाण' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अवस्था में राग, द्वेष,

मोह आदि का क्षय होते हुए भी इन्द्रियों तथा शरीर की सीमाओं में ही व्यक्ति पूर्ण शान्ति का जीवन बिताता है।[69]

(4) न्याय–वैशेषिक दर्शन में जीवनमुक्ति – सैद्धान्तिकरूप से जीवनमुक्ति के आदर्श को स्वीकार न करने पर भी न्याय–वैशेषिकों ने एक ऐसी अवस्था को माना है, जहाँ तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेने पर संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, परन्तु प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए शरीर की आवश्यकता रहती है। इस अवस्था में संसार के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतः बदल जाता है।[70]

(5) सांख्य दर्शन में जीवनमुक्ति– सांख्य भी वेदान्त की तरह दोनों मुक्तियों को स्वीकार करता है। जिस प्रकार कुम्भकार द्वारा चक्र रोक देने पर भी वह चक्र पूर्व संस्कारवश कुछ समय तक घूमता रहता है, उसी प्रकार जीवनमुक्त पुरुष प्रारब्ध कर्मों को समाप्त करने के लिए, कुछ समय तक सशरीर स्थिर रहता है; परन्तु उस समय शरीर द्वारा किये कर्म, उसके कर्म बन्ध का कारण नहीं होते हैं।[71]

(6) वेदान्त दर्शन में जीवनमुक्ति– आत्मज्ञान हो जाने पर अन्य किसी भी ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती और न ही अज्ञान रहता है, जिसका नाश करना शेष हो। आत्मज्ञान के होते ही देहाभिमानादि स्वयं नष्ट हो जाते हैं, जिससे जीवितावस्था में ही आत्मविज्ञ को अशरीरत्व की प्राप्ति हो जाती है।[72] शरीर की स्थिति केवल प्रारब्ध भोग के लिए ही होती है, आगामी बंध के लिए नहीं। जैसे भुना हुआ अन्न–कण भोग के लिए तो उचित होता है, परन्तु उसे भूमि में डालकर फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। जैन मत में आत्मज्ञान की इस स्थिति को केवलज्ञान कहा जाता है। केवलज्ञान के पश्चात् जब तक शरीर रहता है, तब तक उस अवस्था को सयोग केवली कहा जाता है, जो जीवनमुक्त का ही पर्याय है।

जीवनमुक्त अवस्था में जीव अपने लक्ष्य के साथ एकाकार हो जाता है, परन्तु फिर भी देहपात उसी समय नहीं होता। समूल उखड़े हुए वृक्ष का पूर्ण नाश जिस प्रकार सूख जाने पर ही होता है, आत्मवेत्ता के शरीर का क्षय भी उसी प्रकार प्रारब्ध (उदय) कर्मों के निवृत हो जाने पर ही होता है। द्यानतराय ने भी जीवनमुक्त को इन्हीं वाक्यों में परिभाषित किया है –

अखय अनन्ती सम्पति बिलसै, भव तन भोग मगन ना।
द्यानत ता ऊपर बलिहारी, सोई जीवन मुकत भना।।[73]

(ख) साधनागत निरूपणा –

इस अध्याय के अन्तर्गत द्यानतरायजी के साधनागत निरूपणा का अध्ययन किया जाएगा, जिसमें आत्मानुभवरूप साधना के लिए आवश्यक सात तत्त्वों का ज्ञान, छह द्रव्यों का वर्णन, रत्नत्रय, मिथ्याभाव, नवपदार्थ का वर्णन कर अन्त में आत्मानुभव की अवस्था का अध्ययन किया जाएगा।

(1) सात तत्त्वों का निरूपण – तत्त्व का अर्थ है – सारभूत पदार्थ। वस्तु के भाव या स्वभाव को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व शब्द तत् और त्व के योग से बना है। 'तत्' का अर्थ है 'वह' और 'त्व' का अर्थ भाव या पना। अर्थात् वस्तु का भाव या पना ही तत्त्व है। जैसे अग्नि का अग्नित्व, स्वर्ण का स्वर्णत्व, मनुष्य का मनुष्यत्व आदि।

प्रत्येक दर्शन का ध्येय दुःख से निवृत्ति है। दुःख निवृत्ति के लिए दुःख और दुःख के कारण तथा दुःख–निवृत्ति और उसके साधन का सम्यक् परिज्ञान आवश्यक है। जैन दर्शन में सात तत्त्वों के माध्यम से इन्हीं बातों का विचार किया गया है। प्रत्येक सत्यान्वेषी साधक को इनका सम्यक् परिज्ञान आवश्यक है। तत्त्व सात हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

सातों तत्त्वों के लक्षण जैन तत्त्वविद्या में इसप्रकार दिये हैं –

(1) **जीव**–जिसमें चेतना हो, सुख–दुःख आदि के अनुभवन की क्षमता हो।

(2) **अजीव**–चेतना रहित पदार्थ।

(3) **आस्रव**–कर्म आगमन का द्वार।

(4) **बंध**–जीव और कर्म का दूध में जल की तरह एकमेक हो जाना।

(5) **संवर**–आस्रव का निरोध।

(6) **निर्जरा**–कर्मों का आंशिकरूप से झड़ना।

(7) **मोक्ष**–कर्मों का आत्यन्तिक क्षय। पूर्णरूप से झड़ना।

इन सात तत्त्वों का ज्ञान दुःख–निवृत्ति के लिए अनिवार्य है। जीव का मूल लक्ष्य दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर शाश्वत सुख–मोक्ष की उपलब्धि है। मोक्षोपलब्धि के लिए जिन तथ्यों की जानकारी अपेक्षित है, वे तथ्य ही तत्त्व कहलाते हैं। जिस प्रकार स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए इन सात तत्त्वों पर विचार करना अनिवार्य है, उसी प्रकार मोक्षोपलब्धि के लिए संसार और संसार के कारण का ज्ञान अनिवार्य है।

इन सात तत्त्वों में जीव और अजीव का मेल ही संसार है, आस्रव और बन्ध संसार के हेतु हैं, मोक्ष जीव की शुद्ध अवस्था है तथा संवर और निर्जरा उसके साधन हैं।

जैनदर्शन का सार उक्त सात तत्त्वों में समाहित है। जैनदर्शन में अन्य बातों का ज्ञान भले ही हो या न हो, किन्तु उक्त सात तत्त्वों का श्रद्धान–ज्ञान अनिवार्य बताया गया है। इसके अभाव में भले ही सम्पूर्ण वाङ्मय का ज्ञान क्यों न हो, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

द्यानतराय ने भी सात तत्त्वों को उपर्युक्त प्रकार से प्रतिपादित किया है। जीव के स्वरूप के विषय में वे लिखते हैं –

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी।
आनन्दकन्द सुबन्द, चंद पूरन सुखदानी।।
जो जो दीसै सर्व, सर्व छिनभंगुर सो सो।
सुख कहि सकै न कोह, होइ जाकौं जानै जो।।[74]

इस चेतना लक्षण जीव को विभिन्न उपमानों से सम्बोधित करते हुए, वे लिखते हैं –

ग्यानकूप, चिद्रूप, भूप सिवरूप अनूपम।
रिद्ध सिद्ध निज वृद्ध, सहज समृद्ध सिद्ध सम।।
अमल अचल अविकल्प, अजल्प, अनल्प, सुखाकर।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सुगन–गन–मनि–रतनाकर।।
उतपात–नास–ध्रुव साध सत, सत्ता दरब सु एक ही।
द्यानत आनंद अनुभौदसा, बात करन की है नहीं।।[75]

(2) अजीव तत्त्व का निरूपण–द्यानतरायजी ने भी अजीव तत्त्व को चेतना लक्षण से शून्य स्वीकारा है। जिसमें ज्ञान–दर्शन नहीं है, वही अजीव तत्त्व है। जैसा कि वे लिखते हैं –

भाई! अब मैं ऐसा जाना।। टेक।।
पुद्गल दरब अचेत भिन्न है, मेरा चेतन बाना।। भाई।।[76]

(3) आस्रव तत्त्व का निरूपण– कर्मों के आने को आस्रव कहा जाता है अर्थात् मोहनीय आदि पूर्वबद्ध कर्म के उदय में उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेषादि विकारीभावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कार्माण–वर्गणाओं

का कर्मरूप में आना आस्रव है। द्यानतराय ने कर्मों के उदय आदि की चर्चा इस प्रकार की है –

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत हैं जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयौ दुःखदाता।।
सो जड़रूप स्वरूप नहीं मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि दाता।
नास करौं पल मैं सबकौं अब, जाय बसौं सिवखेत विख्याता।।[77]

(4) बंध का निरूपण–बँधने, अटकने को बंध कहते हैं, अर्थात् मोह–राग–द्वेष आदि के विकारीभावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही विशिष्ट सम्बन्ध हो जाना बंध कहलाता है।

कर्मों के बँधने को दुःखदायक बताते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं –

कर–कर आतमहित रे प्रानी।
जिन परिणामनि बंध होत, सो परनति तज दुखदानी।।1।।[78]

इसी प्रकार एक अन्य पद में वे बंध का नाश करने की बात करते हुए लिखते हैं –

अब हम अमर भए न मरेंगे।
तन कारन मिथ्यात दियो तजि, क्यौं करि देह धरैंगे।।
उपजैं मरै काल तैं प्रानी, तातै काल हरैंगे।
राग दोष जग बंध करत है, इनकौ नास करैंगे।।2।।[79]

(5) संवर तत्त्व का निरूपण– आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं अर्थात् ज्ञानानंद स्वभावी अपने आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर–पहचानकर, उसमें ही स्थिरता के बल पर मोह–राग–द्वेषादि अशुद्धि उत्पन्न न होने, रुक जाने तथा वीतरागता उत्पन्न हो जाने से नवीन कर्मों का आना रुक जाना, संवर कहलाता है।

संवर की चर्चा करते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं –

मोहि कब ऐसा दिन आय है।।टेक।।
सकल विभाव अभाव होहिंगे, विकलाता मिट जाय है।
यह परमातम यह मम आतम, भेद बुद्धि न रहाय है।
औरन की का बात चलावै, भेद विज्ञान पलाय है।
जानैं आप आप मैं आपा, सो व्यवहार विलाय है।

नय परमान निरवेपन मांही, एक न औसर पाय है।
दरसन–ज्ञान–चरन के विकलप कहो कहाँ ठहराय है।
'द्यानत' चेतन चेतन है, पुद्‌गल पुद्‌गल थाय है।। मोहि।।[80]

(6) निर्जरा तत्त्व का निरूपण– खिरना, झड़ना, क्रम–क्रम से नष्ट होना निर्जरा है अर्थात् अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में विशेष स्थिरता की क्रमशः वृद्धि से एवं मोहादि विकारों की क्रमशः हानि से पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कर्मों का क्रमशः खिरना, झड़ना, निर्जरा कहलाती है। कर्मों के खिरने की बात द्यानतराय ने भी यत्र–तत्र की है।

जैसे कि उन्होंने रत्नत्रय पूजन की जयमाला में निर्जरा–तत्त्व का वर्णन किया है –

जापै ध्यान सुथिर बन आवै, ताके करमबन्ध कट जावै।
तासौं शिव–तिय प्रीति बढ़ावै, जो सम्यक् रत्नत्रय ध्यावै।।[81]

इसी प्रकार दशलक्षण पूजन की जयमाला में भी निर्जरा तत्त्व का वर्णन इस प्रकार किया है –

करै करम की निरजरा, भव पींजरा विनाशि।
अजर अमर पद को लहै, 'द्यानत' सुख की राशि।।[82]

(7) मोक्षतत्त्व का निरूपण – छूटने को, मुक्त होने को मोक्ष कहते हैं अर्थात् अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में पूर्ण स्थिरता होने से सम्पूर्ण अशुद्धि का नाश तथा परिपूर्ण शुद्धि की प्रगटता का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों का छूट जाना, नष्ट हो जाना, अकर्मरूप हो जाना मोक्ष कहलाता है। द्यानतराय ने चार घातिया और चार अघातिया अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अभाव की बात इस प्रकार की है।

मैं निज आतम कब ध्याऊँगा।।
रागादिक परिनाम त्यागकै, समतासौं लौ लाऊँगा।
मन–वच–काय जोग थिर करकै, ज्ञान समाधि लगाऊँगा।
कबहौं क्षपकश्रेणि चढ़ि ध्याऊँ, चारित मोह नशाऊँगा।।
चारों करम घातिया खन करि परमातम पद पाऊँगा।
ज्ञान दरश सुख बल भंडारा, चार अघाति बहाऊँगा।।
परम निरंजन सिद्ध शुद्ध पद, परमानंद कहाऊँगा।
द्यानत यह सम्पति जब पाऊँ, बहुरि न जग में आऊँगा।। मैं।।[83]

इस प्रकार द्यानतराय ने सातों तत्त्वों का वर्णन कर हेय ज्ञेय व उपादेय तत्त्व बताकर मोक्ष सुख प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

(2) छह द्रव्यों का निरूपण—सत् द्रव्य का लक्षण है।[84] सत् अस्तित्व का वाची है। लोक में जितने भी अस्तित्ववान पदार्थ हैं, सब सत् हैं। सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त रहता है। उत्पाद—उत्पन्न होना, व्यय—विनाश होना, ध्रौव्य—स्थायित्व होना—ये तीनों बातें प्रत्येक सत् में युगपत् घटित होती हैं। लोक में जितने भी पदार्थ हैं, सब परिणमनशील हैं। उनमें प्रति समय नयी—नयी अवस्थाओं की उत्पत्ति होती रहती है, नयी—नयी अवस्थाओं की उत्पत्ति के साथ ही पूर्व—पूर्व की अवस्थाओं का विनाश भी होता है, यह उसका उत्पाद—व्यय है। पूर्वावस्था के विनाश और नयी अवस्था की उत्पत्ति के बाद भी पदार्थ में स्थायित्व बना रहता है, यह अवस्थिति ही ध्रौव्य है। दूध से दही बना, दूध का विनाश हुआ, दही का उत्पाद हुआ तथा गोरस ध्रौव्य रहा।

उत्पाद और व्यय दोनों क्षण—क्षयी हैं, विनाशीक हैं तथा ध्रौव्य स्थिरता का द्योतक है, अतः उत्पाद और व्यय पर्याय है, ध्रौव्य गुण है। इस प्रकार द्रव्य को उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य लक्षणवाला कहना अथवा गुण और पर्याय वाला कहना एक ही बात है।

द्रव्य छह प्रकार के हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। द्यानतराय ने छह द्रव्यों के नाम गिनाते हुए प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान गुणों का वर्णन किया है।[85] छहों द्रव्यों की लोक में सत्ता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि छहों द्रव्य तीनों लोकों में भरे हुए हैं।[86]

(3) आत्मतत्त्व का वर्णन—द्यानतरायजी ने आत्मा की महिमा गाते हुए उसे किसी भी प्रकार से प्राप्त करने की बात कही है। वे आत्मा को जानने को प्रेरित करते हुए लिखते हैं —

आतम जानो रे भाई।।
जैसी उज्ज्वल आरसी रे, तैसी आतम जोत।
काया करमन सौं जुदी रे, सबको करै उदोत।।
शयन दशा जागृत दशा रे, दोनों विकलप रूप।
निर—विकलप शुद्धातमा रे, चिदानन्द चिद्रूप।।
तन बच सेती भिन्न कर रे, मन सौं निज लवलाय।
आप आप जब अनुभवै रे, तहा न मन वचकाय।।

छहौं द्रव्य नव तत्त्व तैं रे, न्यारो आतम राम।
द्यानत ने अनुभव करैं रे, ते पावैं शिव धाम।।[87]

आत्मा को सिद्धक्षेत्र में विराजमान सिद्ध के समान बताते हुए वे लिखते हैं –

अब हम आतम को पहिचाना।
जैसा सिद्ध क्षेत्र में राजै, तैसा घट में जाना।।
देहादिक परद्रव्य न मेरे, मेरा चेतन बाना।
द्यानत जो जानै सो सयाना, नहिं जानै सो अयाना।।2।।[88]

आत्मा की महिमा गाते हुए वे लिखते हैं –

आतम रूप अनुपम है घट माहिं विराजै।
जाके सुमरन जाप सौं, भव भव दुख भाजै हो।।आतम.।।
केवल दरशन ज्ञान मैं, थिरता पद छाजै हो।
उपमा को तिहुँ लोक में, कोउ वस्तु न राजै हो।।
सहै परीषह भार जो, जु महाव्रत साजै हो।
ज्ञान बिना शिव ना लहै, बहु कर्म उपाजै हो।।
तिहुँ लोक तिहुँ काल में, नहि और इलाजैं हों।
द्यानत ताको जानिये, निज स्वारथ काजैं हो।।[89]

आत्मा के भावों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि –

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निजभाव दूजौ पर उतपात है।
तातैं एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ,
जातैं सिवपद लहौ यही ठीक बात है।
भावकौ दुखायौ जीव भावही सौं सुखी होय,
भावही कौ फेरि फेरे मोखापुर जात है।
यह तौ नीकौ प्रसंग लोक कहैं सर,
आगहीकौ दाधौ अंग आग ही सिरात है।।[90]

इस प्रकार द्यानतराय ने आत्मा की महिमा गाकर उसे प्राप्त कर मोक्ष सुख को प्राप्त करने की बात कही है; क्योंकि आत्मा को जानने से ही परम्परा से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

(4) रत्नत्रय का प्रतिपादन – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहा जाता है। मुक्ति की साधना के लिए ये तीनों आवश्यक हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इन तीनों की समन्वित आराधना करने पर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए ही आचार्य भगवन्तों ने इसे त्रिरत्न अर्थात् रत्नत्रय कहा है।[91]

(1) **सम्यग्दर्शन**–तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।[92] अर्थात् सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, इसे ही सम्यक्त्व भी कहा जाता है। इसे विवेक दृष्टि भी कहा जा सकता है। मिथ्यात्व से अभिभूत जीव साधारणतः सत्य को मिथ्या एवं मिथ्या को सत्य मानता है, किन्तु इसके विपरीत सत्य को सत्य एवं मिथ्या को मिथ्या समझना, सत्य पर श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के उदय होने पर ही जीव का आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है। फलतः वह ज्ञेय को तात्त्विकरूप में जानकर हेय का परित्याग कर उपादेय को स्वीकार करने की अभिरुचि या मनोभावों से सम्पन्न होकर क्रमशः आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होता रहता है। यह अवस्था ही सम्यग्दर्शन की अवस्था है।

द्यानतराय भी उपर्युक्त प्रकार से वर्णन करते हुए लिखते हैं कि –

बसि संसार में पायो दुःख अपार।। टेक।।
मिथ्याभाव हिये धरयो, नहिं जानो सम्यकचार।।
काल अनादिहि हौ रुल्यों हो, नरक निगोद मँझधार।
सुरनर पद बहुत धरे पद पद प्रति आतम धार।।
जिनको फल दुख पुंज है हो, ते जाने सुखकार।
भ्रमपद पाय विकल भयौ, नहिं गह्यो सत्य व्योहार।।
जिनवानी जानी नहीं हो, कुगति विनाशनहार।
द्यानत अब सरधा करो, दुख मेटि लह्यो सुखसार।। 4।।[93]

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए भेदविज्ञान अर्थात् स्व पर का ज्ञान आवश्यक है, इसको व्यक्त करते हुए द्यानतराय लिखते हैं –

अब हम अमर भये न मरैंगे।।
तन कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे।।
उपजै मरे कालतैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे।
राग दोष जग बंध करत हैं इनको नाश करैंगे।।
देह विनाशी मैं अविनाशी भेदज्ञान पकरैंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे हो निखरैंगे।

मरे अनन्तबार बिन समझैं, अब सब दुख विसरैंगे।
'द्यानत' निपट निकट दो आखर, बनि सुमरैं सुमरैंगे।।[94]

सम्यग्दर्शन को पाने से प्रगट होनेवाले आठ गुणों एवं पच्चीस दोषों की बात करते हुए द्यानतरायजी संसारी जीवों को सम्यग्दर्शन प्रगटाने हेतु प्रेरित करते हुए लिखते हैं कि –

आप आप निहचै लखौ, तत्त्व प्रीति व्योहार।
रहित दोष पच्चीस हैं, सहित अष्ट गुन सार।।
सम्यक् दर्शन–रतन गहीजे, जिन वच में सन्देह न कीजै।
इह–भव विभव–चाह दुःखदानी, पर भव भोग चहै मत प्रानी।।
प्रानी गिलान न करि अशुचि लखि, धरम गुरु प्रभु परखिये।
पर दोष ढकिये धरम डिगते, को सुथिर कर हरखिये।।
चहुँ संघ को वात्सल्य कीजै, धरम की परभावना।
गुन आठसों गुन आठ लहिकै इहाँ फेर न आवना।।[95]

सम्यग्दृष्टि को सुखी बताते हुए वे लिखते हैं –

देखे सुखी सम्यक्वान।
सुख दुख को दुखरूप विचारैं, धारै अनुभव ज्ञान।
नरक सात में के दुख भोगैं, इन्द्र लखैं तिन मान।।
भीख माँगकै उदर भरैं न करैं चक्री को ध्यान।
तीर्थंकर पद को नहिं चावें, जपि उदय अप्रमान।।
कुष्ट आदि बहु व्याधि दहत न, चहत मकरध्वज थान।
आधि व्याधि निरबाध अनाकुल, चेतनजोति पुमान।
द्यानत मगन सदा तिहिंमाहीं, नाहीं खेद निदान।। देखें।।[96]

सम्यक्दर्शन से लाभ की बात बताते हुए द्यानतराय कहते हैं कि –

जगत में सम्यक् उत्तम भाई।। टेक।।
सम्यकसहित प्रधान नरक में, धिक शठ सुरगति पाई।।
श्रावकव्रत मुनिव्रत जे पालैं, ममता बुद्धि अधिकाई।
तिनतैं अधिक असंजमचारी, जिन आतम लव लाई।।
पंच परावर्तन तैं कीनै, बहुत बार दुखदाई।
लख चौरासि स्वांग धरि नाच्यौ, ज्ञानकला नहिं आई।।
सम्यक बिन तिहुँ जग दुखदाई, जहँ भावै तहँ जाई।
द्यानत सम्यक आतम अनुभव, सद्गुरु सीख बताई।।[97]

(2) **सम्यग्ज्ञान–** ज्ञान तो हर जीव में किसी न किसी प्रकार से रहता ही है, पर जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता, तब तक वह ज्ञान भी अज्ञान या मिथ्याज्ञान ही रहता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। ज्ञान पाँच प्रकार के होते है; मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। जो ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों एवं मन के सहयोग से होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। जिसमें शब्द एवं अर्थ की पर्यालोचना रहती है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान में मन और इन्द्रियों के सहयोग की आवश्यकता नहीं रहती, जिसके द्वारा एक निर्दिष्ट सीमा के मध्य स्थित रूपी पदार्थों को जाना जा सकता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह आत्मिक–ज्ञान है तथा जिस ज्ञान से बिना मन और इन्द्रियों की सहायता के निर्दिष्ट सीमा के मध्य स्थित प्राणियों के मनोभावों को जाना जाता है, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भी आत्मिक–ज्ञान है। जिस ज्ञान से मात्र आत्मा के द्वारा ही सम्पूर्ण लोक और अलोक के भूत, भविष्य और वर्तमानकाल के रूपी और अरूपी समस्त पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से गुण और पर्याय सहित जाना जाता है, वह केवलज्ञान है।

इसी बात को द्यानतरायजी भी कहते हैं कि –

पंच भेद जाके प्रगट, ज्ञेय प्रकाशनभान।
मोह–तपन–हर–चन्द्रमा, सोई सम्यग्ज्ञान।।[98]

सम्यग्ज्ञान की महिमा गाते हुए द्यानतरायजी लिखते हैं –

आप आप जानैं नियत, ग्रन्थ–पठन व्योहार।
संशय–विभ्रम–मोह बिन, अष्ट अंग गुनकार।।
सम्यग्ज्ञान–रतन मन भाया, आगम तीजा नैन बताया।
अच्छर शुद्ध अर्थ पहिचानो, अच्छर अरथ उभय संग जानो।।
जानो सुकाल–पठन जिनागम, नाम गुरु न छिपाइए।
तप रीति गहि बहु मान देकैं, विनय–गुन चित लाइए।।
ये आठ भेद करम उछेदक, ज्ञान–दर्पण देखना।
इस ज्ञान ही सों भरत रीझा, और सब पट पेखना।।[99]

सम्यग्ज्ञान को ज्ञान सरोवर की उपमा देते हुए वे लिखते हैं कि –

ज्ञान सरोवर सोई हो भविजन।। टेक।।
भूमि छिमा करुना मरजादा, सम रस जल जह होई।।
परहित लहर हरख जलचर बहु, नय पकति परकारी।

सम्यक् कमल अष्टदल गुण हैं, सुमन भँवर अधिकारी।
संजम शील आदि पल्लव हैं कमला सुमति निवासी।
सुजस सुवास, कमल परिचय तैं परसत भ्रम तम नासी।।
भव मल जात न्हात भविजन का, होत परम सुख ज्ञाता।
'द्यानत' यह सर और न जानैं, जानैं विरला ज्ञाता।।4।।[100]

सम्यग्ज्ञान से ही चारित्र सम्यक्चारित्र नाम पाता है, बिना सम्यग्ज्ञान के सारे व्रत, तप, संयम आदि व्यर्थ हैं। शास्त्रों में उसे बालतप भी कहा है। द्यानतराय भी सम्यग्ज्ञान को सम्यक्चारित्र का आवश्यक कारण बताते हुए लिखते हैं –

कारज एक ब्रह्म ही सेती।।टेक।।
अंग संग नहि बहिर भूत सब, धन दारा सामग्री तेती।।
सोल सुरग नवग्रैविक में दुख सुखित सात में ततका वेती।
जा शिव कारन मुनिगन ध्यावैं सो तेरे घर आनन्द खेती।।
दान शील जप तप व्रत पूजा अफल ज्ञान बिन किरिया केती।
पंच दख तोते नित न्यारे न्यारी राग द्वेष विधि जेती।।
तू अदिनाशी जग पर कासी 'द्यानत' भासी सुकला वेति।
ते जौ लाल मन के विकलप सब, अनुभव मगन सुविद्या एती।।[101]

इस प्रकार द्यानतरायजी ने सम्यग्ज्ञान की महिमा गाकर सम्यग्ज्ञान को संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से पृथक् बताकर सर्वश्रेष्ठ ज्ञान बताया है। इसको ही सम्यक्चारित्र का सहचारी कहा है।

(3) सम्यक्चारित्र–सम्यग्ज्ञान को आचरण में लाना ही सम्यक्चारित्र है। संयम, त्याग, इन्द्रिय निग्रह और शुद्ध आचरण चारित्र कहलाता है। साधुओं के पाँच महाव्रत, दश यतिधर्म, सत्रह प्रकार का संयम और श्रावक के बारह व्रत सम्यक्चारित्र के ही अन्तर्गत है। चारित्र दो प्रकार का होता है, सर्वत्याग और आंशिक या देशत्याग। साधुओं का त्याग सर्वत्याग एवं गृहस्थों का त्याग आंशिक या देश त्याग कहा जाता है।

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह–इन पाँच आस्रवों का त्याग, शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श इन्द्रियों के इन पाँचों प्रकारों में आसक्त न होना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों का दमन या क्षय करना एवं मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों का निवारण करना, यही सत्रह प्रकार का चारित्र है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र परस्पर सापेक्ष है अर्थात् दर्शन शुद्ध न होने पर ज्ञान शुद्ध नहीं हो सकता। बिना ज्ञान शुद्धि के चारित्र शुद्ध नहीं होता। सम्यग्दर्शन और ज्ञान उत्पन्न होने पर भी सम्यक्चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती। अतः इन तीनों का परिपूर्ण विकास होने पर ही मोक्ष संभव है। विषय–कषायों के कारण चारित्र प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिए जैन शास्त्र में आचरण की विशुद्धता पर विशेष बल दिया गया है।

सम्यक्चारित्र पूजन में सम्यक्चारित्र को इस प्रकार व्यक्त किया है –

आप–आप थिर नियत नय, तप संयम व्योहार।
स्व पर–दया दोनों लिये, तेरह विध दुःखहार।।
सम्यक्चारित वचन सँभालौ, पाँच पाप तजि के व्रत पालौ।
पंच समिति त्रय गुपति गहीजै, नरभव सफल करहु तन छीजै।।
छीजै सदा तन को जतन यह, एक संजम पालिए।
बहु रुल्यो नरक–निगोद माहीं, विष–कषायनि टालिए।।
शुभ करम जोग सुघाट आयो, पार हो दिन जात है।
द्यानत धरम की नाव बैठो, शिव पुरी कुशलात है।।[102]

इस प्रकार द्यानतराय ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मुक्ति का साक्षात् कारण बताया है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए रत्नत्रय को प्रगटाना आवश्यक है। यदि इनमें से एक भी नहीं है तो मुक्ति सम्भव नहीं है। रत्नत्रय के महत्त्व को बताते हुए वे लिखते हैं कि –

सम्यक्दरशन–ज्ञान–व्रत, इन बिन मुक्ति न होय।
अन्ध पंगु अरु आलसी, जुदे जलै दव लोय।।
जापै ध्यान सुथिर बन आवै, ताके करमबन्ध कट जावै।
तासों शिव–तिय प्रीति बढ़ावै, जो सम्यक्रत्नत्रय ध्यावै।।
ताको चहुँगति के दुःख नाहीं, सो न परे भवसागर माहीं।
जनम–जरा–मृत दोष मिटावै, जो सम्यक् रत्नत्रय ध्यावै।।[103]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती है, उसी प्रकार जैसे अन्धा व्यक्ति, लँगड़ा व्यक्ति एवं आलसी व्यक्ति अलग–अलग रहने पर जंगल में जली आग में जलकर मर जाते हैं, किन्तु यदि तीनों मिलकर सूझ–बूझ से काम लें तो तीनों बच सकते हैं। उसी प्रकार जो मन को स्थिर कर ध्यान करता है, उसके कर्मबन्धन कट जाते हैं

तथा रत्नत्रय को ध्यानेवाला चार गति के दुःख नहीं सहता है और वह जन्म, जरा एवं मृत्यु के दोष को मिटा देता है।

(5) मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र का वर्णन – यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण दुःखी है। इन तीनों के कारण चार गति, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए जन्म–मरण का दुःख भोग रहा है। मिथ्यादर्शनादि विकारी भावों के कारण विविध संयोगों के बीच में रहते हुए भी इसे आज तक सुख प्राप्त नहीं हुआ। बिना सीखे, बिना सिखाए ही ये मिथ्यादर्शनादि अनादिकाल से चले आ रहे होने के कारण अगृहीत मिथ्यात्व कहलाते हैं।

इनके अतिरिक्त इन्हीं को पुष्ट करनेवाले अनेकानेक बाह्य कारणों में अपनी अज्ञानता से स्वयं उलझकर या अन्य के माध्यम से उलझकर यह जीव अनन्त दुःख भोग रहा है। इन्हें नया ग्रहण करने के कारण से गृहीत मिथ्यात्व कहलाते हैं। द्यानतराय ने भी अपने पदों में गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का वर्णन जगह–जगह किया है।

(6) नवपदार्थ का वर्णन–जैनधर्म का प्रधान लक्ष्य है आत्मा का विकास कर मुक्ति प्राप्त करना, परन्तु उसके लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा क्या है? उसका गुण क्या है? किस प्रकार आत्मा संसारबद्ध होकर संसार–चक्र में आवर्तित होते हुए दुःख (कष्ट) को सहन करता है और किस प्रकार इस संसार–भ्रमण से मुक्त हुआ जा सकता है? और यह भी सत्य है कि इन सब बातों को जाने बिना आत्मविकास सम्भव नहीं होता। अतः इस ज्ञान के साधनरूप में जैनदर्शन ने नवतत्त्व (नवपदार्थ) स्वीकार किये हैं। वे हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव इन दो तत्त्वों में संसार के समस्त पदार्थ समाविष्ट हो जाते हैं। अन्य सात तत्त्व यह विवृत करते हैं कि जीव या चेतन आत्मा किस प्रकार अजीव या जड़ द्रव्य से बद्ध हो जाती है एवं किस प्रकार उनसे मुक्त हो सकती है।

इन नव तत्त्वों में सात तत्त्वों का वर्णन पूर्व में कर आये हैं। अतः यहाँ पुण्य एवं पाप का अध्ययन किया जा रहा है। द्यानतराय ने पुण्य एवं पाप दोनों को निकृष्ट बताया है। वे लिखते हैं कि पुण्य हो या पाप दोनों ही जीव को कर्मबन्ध के कारण हैं, अतः आत्मकल्याण में बाधक हैं। वे लिखते हैं कि –

हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्यवहारा।
तन सम्बन्धी सब परिवारा, सो तन हमने जाना न्यारा।।
पुण्य उदय सुख बढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा।
पुण्य–पाप दोऊ संसारा, मैं सब देखन जाननहारा।।
मैं तिहुँ जग तिहुँ काल अकेला, पर संयोग भया बहु मेला।
थिति पूरी कर खिर खिर जाहीं, मेरे हर्ष शोक कछु नाहीं।।
राग भाव ते सज्जन माने, द्वेषभाव ते दुर्जन जाने।
राग–द्वेष दोऊ मम नाहीं, 'द्यानत' मैं चेतन पद माहिं।।[104]

इसी प्रकार पुण्य और पाप के भेद को छोड़कर दोनों को एक ही मानकर दोनों को छोड़कर मोक्ष को पाने की बात करते हुए वे लिखते हैं –

मिथ्याभाव मिथ्या लखौ ग्यानभाव ग्यान लखौ,
कामभोग भावनसौं काम जोरजारिकै।
परकौ मिलाप तजो आपनपौ आप भजौ,
पाप–पुण्य भेद छेद एकता विचारिकै।।
आतम अकाज करै आतम सुकाज करै,
पावै भवपार मोक्ष एवौ भेद धारिकै।
भातै हूँ कहत हेर चेतन चेतौ सवेर,
मेरे मीत हो निचीत एतौ काम सारिकै।।[105]

इस प्रकार पुण्य हो या पाप द्यानतराय दोनों को हेय मानते है, क्योंकि दोनों ही संसार को बढ़ानेवाले हैं संसार में भटकाने वाले हैं, अतीन्द्रिय सुख के कारण नहीं है। अतः पुण्य–पाप दोनों हेय हैं।

पाप पुण्य दोनौं बसैं, दरब मांहि भ्रम नाहिं।
द्यानत कीने पाप है पुण्य अमानत माहिं।।[106]

(7) स्वानुभव का वर्णन–स्वानुभव अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए द्यानतराय ने देव–शास्त्र–गुरु के श्रद्धान तथा सात तत्त्वों के श्रद्धान के साथ–साथ भेदविज्ञान एवं आत्मानुभव को भी आवश्यक माना है।

आत्मानुभव की महिमा बताते हुए कवि द्यानतराय प्रेरणा देते हैं –

आतम अनुभव करना रे भाई।। टेक।।
जब लौं भेद ज्ञान नहिं उपजै, जनम मरन दुख भरना रे।।
आतम पढ़ नव तत्त्व बखानै, व्रत तप संजम धरना रे।
आतम ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी–संकट परना रे।।

सकल ग्रन्थ दीपक हैं भाई, मिथ्या तमके हरना रे।
कहा करैं ते अंध पुरुष को, जिन्हैं उपजना मरना रे।।
द्यानत जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
सोऽहं ये दो अक्षर जपकै, भव–जल पार उतरना रे।।[107]

इस प्रकार द्यानतरायजी कहते हैं कि सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी का मूल जो आत्मा का अनुभव है, तुम उसे ही प्राप्त कर लो। यह आत्मानुभव अपूर्व कला है, संसाररूपी ताप को शान्त करने के लिए चन्दन की शलाका है। अतः इस जीवन में एकमात्र आत्मानुभवरूप अपूर्वकला को ही सीख लो, क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता, तब तक जीवन–मरण करना पड़ेगा, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को हरने के लिए सारे ग्रन्थ दीपक के समान हैं। द्यानतरायजी कहते हैं कि जो जीव सुख चाहते हैं, उन्हें सोऽहं अर्थात् मैं ही हूँ, वह ऐसा ज्ञान–श्रद्धान करके भवसागर पार करना चाहिए।

द्यानतरायजी बार–बार यही प्रार्थना करते हैं कि वह दिन कब आयेगा, जब मैं सारे विभाव भाव को छोड़कर भेदविज्ञान पूर्वक आत्मानुभव करूँगा। वे लिखते हैं कि –

मोहि कब ऐसा दिन आये है।। टेक।।
सकल विभाव अभाव होहिंगे, विकलपता मिट जाय है।
यह परमातम यह मम आतम, भेद बुद्धि न रहाय है।।
औरन की का बात चलावै, भेद विज्ञान पलाय है।
जानै आप आप मैं आपा, सो व्यवहार विलाय है।
नय–परमान निखेपन माहीं, एक न औसर पाय है।।
दरशन ज्ञान चरन के विकलप, कहो कहाँ ठहराय है।
द्यानत चेतन चेतन ह्वै है, पुद्गल पुद्गल थाय है।।मोहि।।[108]

उसी प्रकार जब स्वानुभव होता है तो क्या–क्या होता है, उसको व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं कि –

अब हम आतम को पहिचान्यौ।। टेक।।
जब ही सेती मोह सुभट बल, खिनक एक में मान्यो।
राग विरोध विभाव भजे झर, ममता भाव पलान्यौ।।
दरसन ज्ञान चरन में चेतन, भेद रहित परवान्यौ।
सिहि देखैं हम अवर न देख्यो, देख्यो सो सरधान्यो।

ताको कहो कह कैसे करि, जा जानै जिम जान्यौ।
पूरवभाव सुपनवत देखो, अपनो अनुभव तान्यौ।
द्यानत सो अनुभव स्वादत ही, जनम सफल करि मान्यौ।।[109]

इसी प्रकार वे लिखते हैं –

आतम अनुभव कीजै हो।। टेक।।
जनम जरा अरु मरन नाशकै, अनंत काल लौं जीजे हो।
देव धरम गुरु की सरधाकरि, कुगुरु आदि तजि दीजैहो।।
छहों दरब नवतत्त्व परखकै, चेतन सार गहीजै हो।
दरब करम नो करम भिन्न करि सूक्ष्म दृष्टि धरीजै हो।।
भाव करमतैं भिन्न जानिकै बुद्धि, विलास न मरीजै हो।
आप आप जानै सो अनुभव, द्यानत शिव का दीजै हो।
और उपाय वन्यो नहिं बनि है करै सो दक्ष करीजै हो।। आतम।।[110]

इस प्रकार कवि द्यानतराय जनम–मरण के नाश करने में स्वानुभव को परमावश्यक मानते हैं। वे मानते हैं कि जब तक द्रव्यकर्म, नोकर्म एवं भावकर्म से भिन्न बुद्धि नहीं होगी। तब तक स्वानुभव नहीं हो सकता। अतः स्वानुभव के लिए स्वयं को द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से रहित मानकर स्वयं को जानना ही स्वानुभव है।

सन्दर्भ सूची

1. पण्डित आशाधर कृत सागर धर्मामृत, अध्याय–1, पद–7
2. पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ–305
3. आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार
4. अध्यात्म पद संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ–30, भजन–53
5. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–119
6. हिन्दी पद संग्रह, भजन–153, पृष्ठ–128
7. हिन्दी पद संग्रह, भजन–162, पृष्ठ–134
8. द्यानतराय कृत, छहढाला, चतुर्थ ढाल
9. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
10. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
11. द्यानतविलास, पृष्ठ–30, पद–69
12. अध्यात्म पद पारिजात, भजन–584, पृष्ठ–220
13. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–136

14. तत्त्वार्थसूत्र, द्वितीय अध्याय, संसारिणो मुक्ताश्च।
15. तत्त्वार्थसूत्र, द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।
16. तिथि षोडशी, पद–2
17. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–111, भजन–132
18. अध्यात्म पद संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ–33, पद–61
19. अध्यात्म पद पारिजात, पृष्ठ–107
20. वही, पृष्ठ–108, 21. अध्यात्म पद पारिजात, पृष्ठ–109
22. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ–288, 23. वही, पृष्ठ–289
24. पण्डित हुकमचन्द भारिल्ल कृत धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ–17
25. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
26. वही, 27. वही, 28. वही,
29. धवला पुस्तक–1, खण्ड–1, भाग–1, सूत्र–4, पृष्ठ–144
30. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
31. धवला पुस्तक–13, खण्ड–5, भाग–4, सूत्र–26, पृष्ठ–54
32. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ–306
33. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत धर्म के दशलक्षण; पृष्ठ–98
34. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
35. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा–239
36. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन–त्याग धर्म
37. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत धर्म के दशलक्षण
38. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन, 39. वही
40. द्यानतराय कृत आराधना पाठ, 41. वही
42. अध्यात्म पद पारिजात, पृष्ठ–66, 43. वही, पृष्ठ–668
44. द्यानतराय कृत छहढाला, छठी ढाल
45. अध्यात्म पद संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ–30, 46. वही, पृष्ठ–33
47. द्यानतराय कृत आराधना पाठ
48. द्यानतराय कृत देव–शास्त्र–गुरु पूजन
49. द्यानतराय कृत श्री वर्तमान चौबीसी पूजन
50. द्यानतराय कृत उत्तम आकिंचन्य धर्म का अर्घ्य
51. द्यानतराय कृत उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का अर्घ्य
52. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
53. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–126
54. अध्यात्म पद संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ–31

55. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–331
56. आध्यात्मिक पाठ संग्रह, पृष्ठ–334
57. वही, पृष्ठ–336, 58. वही, पृष्ठ–342
59. बृहज्जिनवाणी संग्रह – देव पूजा, जयमाला, पृष्ठ–228
60. षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक–1, भाग–1, सूत्र–23,पृष्ठ–191
61. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 6, सूत्र–13, पृष्ठ–331
62. पंचास्तिकाय, गाथा 150, पृष्ठ–216
63. कुन्दकुन्दाचार्य, नियमसार, गाथा–172
64. षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक 13, सूत्र–24, पृष्ठ–51
65. वही, पुस्तक 2, भाग 1, पृष्ठ–446
66. वृहदारण्यकोपनिषद – 4,14,14
67. मुण्डकोपनिषद – 3,2,9
68. भगवद्गीता – 2–55,56
69. हिरियन्ना एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–154
70. वही, पृष्ठ–15
71. सांख्यकारिका, 67
72. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, 1, 1, 21, नैष्कर्म्य सिद्धि 4,5,8
73. द्यानत पद संग्रह, पद–13
74. आध्यात्मिक पाठ संग्रह, छन्द–9, पृष्ठ–340
75. वही, छन्द–3, पृष्ठ–341
76. अध्यात्म पद पारिजात, छन्द–407, पृष्ठ–145
77. अध्यात्म पाठ संग्रह, छन्द–65, पृष्ठ–142
78. हिन्दी पद संग्रह, छन्द–134, पृष्ठ–112
79. वही, छन्द–137, पृष्ठ–114
80. अध्यात्म पद पारिजात, छन्द–319, पृष्ठ–142
81. द्यानतराय कृत रत्नत्रय पूजन
82. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
83. आध्यात्मिक पद संग्रह, पद–69, पृष्ठ–338
84. सत् द्रव्यलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र, अ. सू.
85. द्रव्यादि चौबोल–पचीसी, पद–23
86. द्रव्यादि चौबोल–पचीसी, पद–20
87. हिन्दी पद संग्रह, पद–133, पृष्ठ–111
88. वही, पद–136, पृष्ठ–113
89. वही, पद–166, पृष्ठ–136

90. उपदेश शतक, पद–107
91. गणेश ललवानी रचित, जैनधर्म व दर्शन, पृष्ठ–127
92. उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र–2, अध्याय प्रथम
93. अध्यात्म पद पारिजात, पृष्ठ–76
94. वही
95. द्यानतराय कृत रत्नत्रय पूजन
96. आध्यात्मिक पद संग्रह, पद–81, पृष्ठ–338
97. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय के पद
98. द्यानतराय कृत रत्नत्रय पूजन
99. वही
100. अध्यात्म पद पारिजात, पृष्ठ–84
101. वही, पृष्ठ–85
102. द्यानतराय कृत सम्यक्चारित्र पूजन
103. द्यानतराय कृत रत्नत्रय पूजन
104. अध्यात्म पद संग्रह, पृष्ठ–36
105. आध्यात्मिक पाठ संग्रह, पृष्ठ–342
106. शिक्षा पंचासिका, पद–45
107. अध्यात्म पद पारिजात, पृष्ठ–143
108. वही, पृष्ठ–142, 109. वही, पृष्ठ–143, 110. वही, पृष्ठ–146

आदिनाथ अरहन्त आदि गुरु

भ्रम्योजी भ्रम्यो, संसार महावन, सुख तो कबहुं न पायोजी।
पुद्गल जीव एक करि जान्यो, भेद ज्ञान न सुहायो जी।।
मन–वच–काय जीव संहारो, झूठो वचन बनायो जी।
चोरी करके हरष बढ़ायो, विषय भोग गरबायोजी।।
नरकमाहिं छेदन–भेदन बहु, साधारण बसि आयो जी।
गरभ जनम नरभव दुःख देखे, देव मरत बिललायो जी।।
द्यानत अब जिनवचन सुनै मैं, भवमल पाप बहायोजी।
आदिनाथ अरहन्त आदि गुरु, चरनकमल चितलायोजी।।

पंचम अध्याय

द्यानतराय के काव्य में अभिव्यक्त कलापक्ष

'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' अर्थात् रसात्मक वाक्य को काव्य कहा जाता है और शास्त्र शब्द से तात्पर्य है—आदेश, धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला आदि सम्बन्धी ग्रन्थ। जिनके द्वारा मानव समाज तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति और रक्षा की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शिक्षा मिलती है। शास्त्रीय शब्द का अभिप्राय है—शास्त्रसम्मत शास्त्रानुमोदित। काव्यशास्त्र वस्तुतः पारिभाषिक शब्द के रूप में व्यवहृत है। संस्कृत परम्परा में सम्पूर्ण वाङ्मय को शास्त्र तथा काव्य के दो स्वतन्त्र प्रकारों में विभाजित किया गया है। काव्यशास्त्रीय आचार्य राजशेखर ने काव्यविधा को पन्द्रहवाँ स्थान दिया है। चार—वेद, छह—वेदांग, चार—शास्त्र अर्थात् चौदह—विधाओं का एकमात्र आधार काव्यविधा को माना गया है। इस प्रकार काव्यशास्त्रीय शब्दयुग्म से अभिप्राय है—काव्यतत्त्वों—अंगों से सम्बन्धित मूल्यमान। इनमें भाव और कला दो प्रमुख पक्ष माने गये हैं। भावपक्ष में विषयबोध, रस निरूपण तथा प्रकृति—चित्रण सम्मिलित है; जबकि कलापक्ष में अलंकार, छन्द, भाषा—शैली आदि वे सभी तत्त्व समाविष्ट हैं, जिनके सहयोग से भावों में उत्कर्ष उत्पन्न होता है। इन सबका क्रमानुसार विवेचन निम्नांकित है—

(1) भाषा—कवि द्यानतराय ने अपने लेखन में प्रयुक्त भाषा को किसी विशेष नाम से सम्बोधित न करके मात्र 'भाषा' शब्द से अभिहित किया है। इस सम्बन्ध में उनके कथन दृष्टव्य हैं—

> **अक्षर ज्ञान न मोहि, छन्द भेद समझूँ नहीं।**
> **मति थोड़ी किम होय, भाषा अक्षर बावनी।।**[1]

कवि ने तत्कालीन भाषा में साहित्य की रचना इसलिए की, ताकि जो लोग बुद्धि की हीनता से संस्कृत भाषा में लिखे गये ग्रन्थों को नहीं पढ़ सकते हैं, वे देशभाषा में उन्हें पढ़ सकें। इसी कारण द्यानतराय ने देशभाषा में काव्य की रचना की।

यह स्पष्ट है कि कवि ने धर्म भावना के कारण देशभाषा में अपने ग्रन्थों की रचना की है। इन रचनाओं में देशभाषा उनकी है तथा विषयवस्तु परम्परागत है।

देशभाषा से कवि का आशय तत्कालीन लोक प्रचलित विकासशील

भाषा से है। जहाँ एक ओर यह भाषा बोलचाल की भाषा थी, वहीं दूसरी ओर साहित्य की भी भाषा थी। इस भाषा को अल्पबुद्धि भी पढ़ सकते हैं। – इस प्रकार कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा वस्तुतः आगरा, ग्वालियर आदि विशाल हिन्दी भाषी प्रदेश की लोकभाषा व साहित्यिक भाषा 'ब्रजभाषा' ही है; क्योंकि उस समय लोक एवं साहित्य की प्रचलित भाषा ब्रजभाषा ही थी। यद्यपि कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा ब्रजभाषा ही है, फिर भी उसमें अनेक विदेशी भाषाओं के शब्द दिखायी देते हैं। साथ ही कहीं–कहीं स्थानीय भाषा के शब्द (देशी शब्द) तथा खड़ी बोली की समीपता भी दृष्टिगत होती है।

यद्यपि मूलतः कवि कृत रचनाओं की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है, तथापि वह भाषा सभी रचनाओं में एक जैसी नहीं है। उसमें उत्तरोत्तर विकास के दर्शन होते हैं। उनकी भाषा में बहुतायत से देशी–विदेशी भाषाओं के अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। शब्दों का यह प्रयोग कहीं तो अपनी प्रकृति के अनुसार ज्यों का त्यों किया गया है तो कहीं हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुसार यथेच्छ परिवर्तन करके किया गया है। कवि की भाषा का पूर्ण विकसित और परिमार्जित प्रौढ़रूप चरचाशतक एवं द्यानतविलास कृतियों में मिलता है।

द्यानतराय के समय में ब्रजभाषा एक विशाल भूभाग की भाषा बन चुकी थी। उसका साहित्य में पर्याप्त प्रयोग होने लगा था। साथ ही राजदरबारों में भी उचित सम्मान दिया जाने लगा था। वह देश की समस्त भाषाओं में लोकभाषा के रूप में शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित होने की अधिकारिणी बन गयी थी। इसलिए द्यानतराय ने अपने साहित्य की रचना ब्रजभाषा में ही की। द्यानतराय के साहित्य की भाषा सरल ब्रजभाषा है। यह ब्रजभाषा की उन सब विशेषताओं से युक्त है, जो ब्रजभाषा में पायी जाती हैं। द्यानतराय द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा की कतिपय विषेशतायें निम्नलिखित हैं –

(1) आकारान्त के स्थान पर ओकारान्त या औकारान्त का प्रयोग दिखायी देता है। यथा आयो, बड़ो, भलो आदि।

(2) ए के स्थान पर ऐ का प्रयोग किया गया है। जैसे– लहै, सुनै, जानै, धरै आदि।

(3) संयुक्त वर्णों को स्वर विभक्ति के द्वारा अलग करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा–परवीन, निरधार, सत् संगति, कल्पित, विसतार, शबद, परसिद्ध, पारस, जनम, पदारथ आदि।

(4) संयुक्त वर्णों को संयुक्त और पृथक् दोनों रूपों में लिखा गया है– भरम और भ्रम, पदारथ और पदार्थ, परमान और प्रमान, विकलप और विकल्प आदि।

(5) मुख–सुख या उच्चारण सुविधा के कारण संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर दिया है। स्तुति को थुति, चेत्य को चैत, स्थान को थान, द्युति का दुति, स्थिति को थिति, स्वरूप को सरूप, स्तम्भ को थंभ, दुष्ट को दुठ, स्थिरता को थिरता आदि।

(6) प्रायः संयुक्त वर्णों का सरलीकरण करने के लिए आधे वर्ण को पूरा करके रखा गया है, जिसमें उच्चारण सम्बन्धी सुविधा हुई है। यथा – मारग, सरवारथ, शुकल, सरधान, सुमरन, विघन, अलप आदि।

चूँकि द्यानतराय की भाषा ब्रजभाषा है, इसलिए उन्होंने दूसरी भाषा के शब्दों को ग्रहण करते समय उनकी ध्वनियों को अपनी प्रकृति के अनुसार ढाल लिया है। ध्वनियों का यह परिवर्तन दृष्टव्य है–ष को स में बदलना। जैसे–विलास, सीस, ससि, सुन्न, निरास, सारद, सर आदि।

ण को न में परिवर्तित करना – प्रान, तारन, गुन, तृन, चरन, सरन, पुरान, पुण्य, प्रानी, वानी, दशलाछनी आदि।

क्ष के स्थान पर छ को प्रयोग करना – पंछी, छीन, छिन, लछमी, परतच्छ, छोभ, लच्छन इत्यादि।

कहीं–कहीं 'व' वर्ण का कार्य 'ओ' और 'उ' की मात्रा से निकाला गया है। जैसे–विभौ (वैभव) भौन (भवन) पौन (पवन) परभौ (परभव) गौन (गवन) धुजा (ध्वजा) धुनि (ध्वनि) सुरग (स्वर्ग) आदि।

बदले वर्णों वाले शब्दों का द्यानतराय के साहित्य में बहुलता से प्रयोग हुआ है। यथा–जम (यम) परजाय (पर्याय) जोवन, (यौवन) लच्छन (लक्षण) लच्छमी (लक्ष्मी) उपगारी (उपकारी) कारिमा (कालिमा) लोयन (लोचन) लाह (लाभ) रिषभ (ऋषभ) इत्यादि।

द्यानतराय के साहित्य में मात्रा बड़े हुए शब्द भी पाये जाते हैं। यथा – जिहान (जहान), दिना (दिन) लागे (लगे) नीसतारे (निसतरे) छिन (क्षण) पिछताया (पछताया) इत्यादि।

1. पूजन साहित्य की भाषा–द्यानतराय कृत पूजनों की भाषा सरल एवं प्रभावात्मक है। मधुरता और सरसता उसमें सर्वत्र विद्यमान है। प्रसादगुण उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वह कोमलकान्त पदावली समन्वित है। शब्दों

का प्रयोग सार्थक, सुबोध एवं स्वाभाविक रूप में हुआ है। सुगठित शब्द योजना, भाषागत ध्वन्यात्मकता एवं लाक्षणिकता सर्वत्र दर्शनीय है।

शब्द समूह—शब्दों के स्रोत के रूप में द्यानतराय कृत पूजनों में तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी आदि सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है।

तत्सम—महिमा, मंगल, विगत, पूजा, उद्यम, कमल, अनुपम, ध्यान, भक्ति, शक्ति, कथा, शोक, भ्रमर, समुद्र, उपमा, उद्यान, नदी, पर्वत, गिरि, नगर, शास्त्र, निर्ग्रन्थ, शिखर, दर्पण, गृह, ब्रह्मचर्य, तृष्णा आदि।

तद्भव—परजाय, सुमिरन, परीशह, उछाव, सांझ, भाखा, जोग, विसन, आचारज, बरनत, अच्छर, थार, मँझार, विरचि, निरखि, थुति, निठुर, दुति, परवीर, सरधा, अगनि आदि।

देशी—लाड़ू, हेठ, पठायौ, पैड, तिसाये, बाढ़, बुहारी, रिस, अरक, सांचा, पुतला, चौखुट आदि।

विदेशी—पीर, जरा, गुमान, परहा इत्यादि।

(2) चरचा शतक की भाषा—द्यानतराय द्वारा रचित चरचा शतक की भाषा साफ सुथरी और साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें संस्कृत के शब्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है –

तद्भव शब्द—चरचाशतक में कवि द्यानतराय द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्द निम्नलिखित हैं—सरवग्य, दरब, ससि, किरोर च्यारि, आचारज उवझाय, पच्छिम, दच्छिन, जोजन, गुणधान, सुरग फरस, परकार, सूच्छम, कारमान, ग्यान।

प्राकृताभास शब्द—चरचा शतक में कतिपय प्राकृताभास शब्दों का प्रयोग हुआ है; जो कि निम्न हैं –

छट्ठे, इग्यारै गुणथान, मोख, चक्खू अचक्खू।

देशज शब्द—चरचा शतक में प्रादेशिक या क्षेत्रीय शब्दावली के रूप में देशज शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है।

यथा—भोंदू, ढील, डोरी, पतासा, खोरी, खरी आदि।

विदेशी शब्द—द्यानतराय ने चरचाशतक में अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे—सलाह, माफिक, खातिर, खलास, इलाज, निशानी, नजर, नाहक आदि।

शतक, बावनी एवं अष्टक साहित्य की भाषा

कवि द्वारा रचित जकड़ी, आरती, विनती आदि से सम्बन्धित प्रकीर्ण

पद या फुटकर रचनाओं में पूर्व रचनाओं की तरह भाषा का वैशिष्ट्य दिखायी देता है। इनमें भी तत्सम, तद्‌भव एवं विदेशी शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनका विवरण निम्नांकित है –

तत्सम शब्द– त्रिकाल, प्रणमामि, अक्षत, घोश, प्रोहित, निस्पृह, सूत्र, पल्लव, प्रेक्षणीय, किमपि आदि।

तद्‌भव–शब्द– दुल्लभ–दुर्लभ, पोहप–पुष्प, कीरा–कीट, बीजुरी–विद्युत, सीरी–शीत, चहुँगति–चर्तुगति, पास–पार्श्व, कोढ़–कुष्ट, विंतर–व्यंतर, आदि।

देशज शब्द– दुखिया–दुखी, बिगार–हानि, पेंठ–छोटा और थोड़े समय का बाजार, ढिग–पास में, गोट–झुड़, अघोरी–घिनौने काम करने वाला, ओखर–उपकरण, बुरजी–गुम्बद, आछे–अच्छ, जिवाये–भोजन कराया, बाट–पथ, पौढ़ना–सोना, लेटना, बेग–शीघ्र, अरदास–प्रार्थना, थाली–पात्र विशष, सिलगै–प्रज्वलित होना इत्यादि।

विदेशी शब्द– बदबोई (बदबू फारसी विषेशण) खुमारी (अरबी, फारसी विषेशण) आखिर (अरबी, फारसी विशेषण) दिवाना (फारसी संज्ञा पुल्लिंग) अमल (अरबी संज्ञा, पुल्लिंग) अरज (अर्ज, अरबी संज्ञा स्त्रीलिंग) गाफिल (अरबी संज्ञा, पुल्लिंग) नफा (फारसी संज्ञा पुल्लिंग) खयाल (ख्याल, अरबी संज्ञा पुल्लिंग)।

गुणव्यंजक पदावली–साहित्यकारों ने रसात्मक काव्य के तीन गुण माने हैं–माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य गुण के अभिव्यंजक वर्ण ट्, ठ्, ड्, ढ् को छोडकर अन्त्यवर्णों से संयुक्त क से म पर्यन्त 21 वर्ण हैं। ओज गुण के व्यंजक वर्ण क, च, ट, त, प, ग, ज, ड, द, ब, वर्ण अपने वर्ग के प्रथम वर्ण के अन्त्य वर्ण घ, झ, ढ, ध, भ, के संयोग से निर्मित पद हैं अर्थात् ओज गुण में वर्ग के पहले व दूसरे वर्णों तथा तीसरे व चौथे वर्णों का योग होता है। अर्थात् प्रसाद गुण के अभिव्यंजक वे वर्ण हैं, जिनका अर्थज्ञान श्रवण मात्र से हो जाता है। प्रसाद गुण में वर्णों का कोई नियम नहीं है।

(1) माधुर्य गुण–श्रृंगार, शान्त, भक्ति एवं वात्सल्य रसात्मक स्थलों पर माधुर्य गुण का सौन्दर्य अभिव्यक्त हुआ है। यथा –

जैसी उज्ज्वल आरसी रे, तैसी असम जोत।
काया करमन सौ जुदी रे, सबको करै उदोत।
शयन दशा जागृत दशा रे, दोनों विकलप रूप।
निर विकलप शुद्धात्मा रे, चिदानन्द चिद्रुप।।[2]

(2) ओज गुण—वीर, वीभत्स, भयानक और रौद्र रसात्मक स्थलों पर ओजगुण प्रकट हुआ है।

तजत अंग अरधंग, करत थिर अंग पंग मन।
लखि उमंग सरवंग, तजत वचननि तरंग मन।।
जित अनंग थिति सैल सिंग, गहि भावलिंग वर।
तप तुरंग चढ़ि समर रंग रचि, काम जंग करि।।
अरि झट्ट झट्ट मद हट्ट करि, सट्ट सट्ट चौपट्ट किय।
करि अट्ठ नट्ठ भव कट्ठ दहि, सट्ट सट्ट सिव सट्ट लिय।।[3]

(3) प्रसाद गुण—समास, संयुक्ताक्षर और तत्सम शब्दों से रहित सरल एवं सुबोध शब्दावली में प्रसाद गुण दिखलाई देता है। यथा –

मौन रहैं वनवास गहैं, वर काम दहैं जु सहैं दुखभारी।
पाप हरैं सुमरीति करैं, जिनवैन धरैं हिरदे सुखकारी।।
देह तपैं बहु जाप जपैं, न वि आप जप ममता विसतारी।
ते मुनि मूढ़ करैं जगरूठ, लहै निजगेह न चेतन धारी।।[4]

शब्द शक्तियाँ

द्यानतराय के साहित्य में वाचक,लक्षक और व्यंजक शब्दों द्वारा वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को प्रकट करने वाली क्रमशः अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—तीनों शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती है।

(क) अभिधा शक्ति—सिद्धान्त कथनो में ,शान्त और भक्तिरस के प्रसगों में अभिधाशक्ति सर्वाधिक प्रयुक्त हुई है। यथा—

मैं देव नित अरहंत चाहूँ, सिद्ध का सुमिरन करूँ।
मैं सूर गुरु मुनि तीन पद ये, साधु पद हिरदय धरूँ।।
मैं धर्म करुणामयी चाहूँ, जहाँ हिंसा रचं ना।
मैं शास्त्र ज्ञान विराग चाहूँ, जासु में परपंच ना।।[5]

(ख) लक्षणा शक्ति – द्यानतराय ने जहाँ एक ओर पृथक् रूप से लक्ष्यार्थ को प्रकट करने के लिए लक्षणाशक्ति का प्रयोग किया है, वहीं दूसरी ओर कथानक, सिद्धान्तकथन आदि के बीच–बीच में प्रयुक्त मुहावरे एवं लोकोक्तियों के माध्यम से भी लक्षणाशक्ति का व्यवहार किया है। चूँकि लोकोक्तियाँ और मुहावरे वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ को ही प्रकट करते हैं, इसलिए उनका निरूपण लक्षणाशक्ति के अन्तर्गत ही आता है। यद्यपि

द्यानतराय के साहित्य में प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियों का विस्तृत विवेचन पृथक्‌रूप से किया गया है, तथापि बानगी के रूप में उदाहरण दृष्टव्य है –

पाय चिन्तामन रतन शठ, छिपत उदधि मँझार।
अंध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गँवार।।[6]

(ग) **व्यंजनाशक्ति**–द्यानतराय ने व्यंग्यार्थ को प्रकट करने के लिए व्यंजनाशक्ति का भी प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप उनके एक भजन में दृष्टव्य है –

रे मन भज–भज दीन दयाल,
जाके नाम लेत इक खिन में,
कटै कोटि अघ जाल।। रे मन।।[7]

शब्द योजना

शब्दों का उचित और सटीक प्रयोग भाषा को सुन्दर, सशक्त और प्रभविष्णु बनाता है। द्यानतसाहित्य में शब्दों की योजना भाव एवं प्रसंग के अनुसार ही की गई है। उदाहरणार्थ –

धाम तजत धन तजत, तजत गज वर तुरंग रथ।
नारि तजत नर तजत, तजत भुवपति प्रमादपथ।।
आप भजत अघ भजत, भजत सब दोष भयंकर।
मोह तजत मन तजत, सजत दल कम सत्रु पर।।[8]

संज्ञा– द्यानतराय द्वारा रचित विभिन्न रचनाओं में प्रयुक्त तत्सम, तद्‌भव, देशज और विदेशी शब्दों का विवरण देते हुए अनेक संज्ञा शब्दों का उल्लेख किया जा चुका है।[9]

सर्वनाम– द्यानतराय साहित्य में प्रयुक्त सर्वनामों का स्वरूप प्रायः ब्रजभाषा का है, किन्तु कतिपय सर्वनाम शब्दों का स्वरूप आधुनिक खड़ी बोली का भी व्यवहृत हुआ है। उदाहरणार्थ – कर्म व सम्प्रदान में ब्रज के 'मोहि, मुहि, तोहि, तुहि' आदि रूपों के साथ खड़ी बोली के 'मुझको, मोकूं, तोकूं' आदि रूप प्राप्त होते हैं। कहीं–कहीं विशेषकर पद्य में 'ताहि' भी दिखाई पड़ जाता है। 'जिन्हें, तिन्हें, किन्हें' के स्थान पर जिनको, तिनको, किनको प्रयोग में लाये गये हैं, जो ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट हैं।

द्यानतराय द्वारा प्रयुक्त सर्वनाम निम्नांकित हैं –

1. **उत्तमपुरुष एकवचन–** में, हों, मोहि, मो, मेरे, मुझको, मोंको, मेरो, मोकूं, मेरा, मेरी, मेरो, मेरा, मेरयो, हमारे, हमार, हमारा।

2. **उत्तमपुरुष बहुवचन–** हम, निज, अपने, हमको, हमकों, हमारा, हमारे, हमारो।

3. **मध्यमपुरुष एकवचन–** तूँ, तू, तैं, तूने, तुम, ता, तोकूँ, तोहि, तेरो, तेरा, तेरे।

4. **मध्यमपुरुष बहुवचन–** तुम, तुमको, तुमकों, तुमकूँ, तुम्हारा, तुमारे, तुमकौ, तुमकौं।

5. **अन्य पुरुष एकवचन–** सो, वा, वह, ता, तिस, जा, जे, जिस, इस, या, यहि, यहु, यह, जो, जिहि, कोउ, कोऊ, ताको, ताकों, ताहि, जाको, जाको, जाका, याकों, ताकूँ, ताका, ताके, ताकी, ताकै, जाका, जाकै, जाकी, जाकें, याका, याके, याकी, याकै, वाकै।

6. **अन्य पुरुष बहुवचन–** तै, तेई, तिन, तिनि, जै, वे, इन, उन, ए, केई, सर्व, सब, तिन्हे, त्यों, तिनको, बा, बिन, उनही, ये, इन इह, येही, याते, इहु, यहैं, एते, जिनको, जिनकौ, तिनको, तिनकौ, इनको, सबनिकूँ, सबकूँ, तिनका, तिनिका, तिनिकै, जिनका, जिनके, जिनकै, इनका, इनकै, उनका, उनकी, उनकै, सबका, सबनिका आदि।

(1) कारक एवं विभक्तियाँ

हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से मीमांसा करने वाले ग्रन्थों में कारक और विभक्तियों के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। कारक और विभक्ति दो अलग–अलग चीजें हैं। कारकों का सम्बन्ध क्रिया से है। वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न पदों का क्रिया से जो सम्बन्ध है, उसे कारक कहते हैं। इन प्रयुक्त पदों का आपसी सम्बन्ध भी क्रिया के माध्यम से होता है। उनका क्रिया से निरपेक्ष स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार वाक्य रचना की प्रक्रिया में कारक एक पद का दूसरे पद से सम्बन्ध तत्त्व का बोधक है अर्थात् वह यह बताता है कि वाक्य में एक पद का दूसरे पद से क्या सम्बन्ध है। भाषा में इस सम्बन्ध को बतानेवाली व्यवस्था विभक्ति कहलाती है अर्थात् जिन प्रत्ययों या शब्द से इस सम्बन्ध की पहचान होती है, उसे विभक्ति कहते हैं। इस प्रकार विभक्ति और कारक छह माने हैं। इसमें एक–एक कारक के लिए एक–एक विभक्तियाँ सुनिश्चित कर दी गयी हैं। यथा–कर्ता–प्रथमा, कर्म–द्वितीया, करण–तृतीया, सम्प्रदान–चतुर्थी, अपादान–पंचमी, अधिकरण–सप्तमी। षष्ठी

के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट निर्देश है–'शेषे षष्ठी'।

सम्बन्ध को बताने के अतिरिक्त दूसरे कारकों को बताने के लिए भी षष्ठी का प्रयोग किया जा सकता है। 'शेषे षष्ठी' का अभिप्राय यही है, परन्तु हिन्दी के व्याकरण में सम्बन्ध को कारक मान लिया गया है और उसके लिए षष्ठी विभक्ति सुनिश्चित कर दी गयी है। इसी प्रकार सम्बोधन को भी एक विभक्ति दी जाती है; जो कि वास्तव में गलत है। जहाँ तक कारकों के ऐतिहासिक विकास का सम्बन्ध है, कारकों की स्थिति प्रत्येक भाषा में अपरिवर्तनशील है; क्योंकि उनका सम्बन्ध वाक्यों में प्रयुक्त पदों की विवक्षा से है। हाँ, इस विवक्षा को बताने वाली भाषायी व्यवस्था में विनिमय या परिवर्तन सम्भव है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि संस्कृत के बाद प्राकृत में–अपभ्रंश में कर्ता, कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियों का लोप हो गया तो इसका अर्थ यह नहीं कि इन कारकों का लोप हो गया है। कारक तो ज्यों के त्यों हैं। हाँ, उनकी सूचक विभक्तियों के प्रत्ययों का लोप हो गया अर्थात् बिना भाषा सम्बन्धी प्रत्ययों के उनके कारक तत्त्व का प्रत्यय ज्ञान हो जाता है।

1. **कर्ताकारक**–द्यानतराय के साहित्य में कर्ताकारक का प्रयोग 'ने' चिह्न के लोप के रूप में मिलता है। यथा –

द्यानत कीज्यो शिव खेत भूमि समरपतु हों।
द्यानत लीनों नाम यही भगति शिव सुख करै।।[10]

2. **कर्म कारक** – कर्म कारक के प्रयोग में कहीं–कहीं –को, कौ, पै, कै, सो प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। यथा–पुरुष को, आतम को, सब प्रतिमा को, देबन कौ, चरण कौ, मन कौ, प्रेम कौ, जिय कौ आदि।

3. **करण कारक**–करण कारक के प्रयोग 'सौ' प्रत्यय से युक्त पाये जाते हैं तथा इस नियम के यत्र–तत्र अपवाद भी दृष्टव्य हैं। यथा –

जिनसौं मिलना फेर बिछरना तिनसौ केसी यारी।[11]

4. **सम्प्रदान कारक** – सम्प्रदान कारक में कौं, सौ, कौं आदि चिह्नों का प्रयोग पाया जाता है। यथा –

या जग माहिं तुझे तारन को, कारन नाव बखानी।
द्यानत सो गहिये निहचै सैं, हुजे ज्यों शिवथानी।।[12]

5. **अपादान कारक** – अपादान कारक में सों, तें चिह्न पाये जाते हैं। यथा – **जिन परिणामनि बन्ध होत सों परिणति तज दुखदायी।**[13]

6. **सम्बन्ध कारक** – इस कारक के चिह्न का, की, के, कै, कौ हैं,

जिनका कवि द्वारा सर्वत्र ही प्रयोग किया गया है। यथा –

दीपक की ज्योति प्रकाश, तुम तन माहिं लसै।[14]

7. अधिकरण कारक – अधिकरण कारक के चिह्न माहिं, में, मैं, पै, पर द्यानत साहित्य में सर्वत्र ही प्राप्त होते हैं। कभी–कभी सप्तमी विभक्ति के प्रयोग में शब्द पर ए, ऐ की मात्रा लगी हुई मिलती है। यथा –

एक इक शीश पर एक जिनमन्दिरं।
ऊँचे पाँच शतक पर भाखै, चारों नन्दन वन अभिलाखै।।[15]

8. सम्बोधन कारक – सम्बोधन कारक के लिए द्यानत साहित्य में ऐ, रै, अरे, वीर, वीरा, हे, री भाई – इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के सम्बोधन में नीतिपरक एवं भक्तिपूर्ण चर्चा हुई है। यथा –

देखौ भाई आतम राम विराजै। कर कर आतमहित रे प्राणी।।[16]

क्रियापद – द्यानतराय के साहित्य में प्रयुक्त क्रियापद निम्नलिखित हैं –

(1) वर्तमान कालिक क्रिया – ठाड़े हैं, वन्दौं, कहो, प्रणमानि, करे हैं।

(2) भूतकालिक क्रिया – दीनी, कीनी, लीनी, खोयो, रोयो, दियो, गयो, भई, हुआ, आयी, आया, पाई, पाया, भये, देख्या, पेख्या, हस्यो, भज्यो, मिल्या।

(3) भविष्यत् कालिक क्रिया – मिलेगा, पावेगा, पूछते हैं, हेंगे, लेंगे, होयेगी आदि हैं।

(4) आज्ञार्थक क्रियाएँ – तज, भज, हाल, जोर, छोर, कीजे, लीजे, विचारौं, सिधारौं, बिसारौं, दीजिए, सुनूँ, सुनहूँ।

संस्कृत के क्त्वा प्रत्यय से बने हुए रूपों को कवि द्वारा इ, य लगाकर बनाया गया है। जैसे – आइ, आय, धरि, मानी, जानी।

द्यानत साहित्य में व्यवहृत क्रियाओं का रूप ब्रजभाषा, खड़ी बोली तथा कन्नौजी से मिलता हुआ पाया जाता है, तथापि विश्लेषण की दृष्टि से देखने पर प्रायः ब्रजभाषा का प्रभाव पदों में तथा खड़ी बोली क्रियाओं का प्रभाव नीति सम्बन्धी कवित्त, सवैया, दोहा नामक छन्दों में पाया जाता है। संस्कृत के विभक्ति युक्त रूप भी कतिपय क्रियाओं में परिलक्षित होते हैं। यथा –

नरेन्द्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीसं, शतेन्द्रं सु पूजै भजै नाय शीशं।[17]

द्यानत साहित्य में संयुक्त क्रियाओं का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कवि का भाषा व्यवहार प्राचीनता और नवीनता का समन्वय करने वाला तथा विविध रूप वाला रहा है। दूसरे शब्दों में द्यानतराय ने हिन्दी भाषा के समग्र

रूपों के साथ–साथ संस्कृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी, उर्दू आदि के शब्दों एवं तत्सम्बन्धी क्रियाओं का व्याकरण संगत प्रयोग सफलता पूर्वक किया है।

कुल मिलाकर महाकवि द्यानतराय की भाषा विषय के अनुकूल होकर भाव प्रवणता व मनोरंजकता से युक्त है। उसमें सरसता, कोमलता, मधुरता, सुबोधता, सार्थकता आदि गुण पाये जाते हैं। साथ ही विषयानुकूल प्रसाद, ओज व माधुर्य गुण का समावेश है। नादसौन्दर्य के साधन, छन्द, तुक, गति, यति, लय आदि का सुन्दर तथा मुहावरे और लोकोक्तियों का सफल प्रयोग पाठक को मन्त्रमुग्ध कर देता है। इस प्रकार द्यानतराय की भाषा सर्वत्र भाव एवं विषय के अनुकूल होकर प्रभावकारी बन पड़ी है।

(2) छन्द विधान

छन्द का अर्थ और परिभाषा –

वेद समस्त विधाओं का मूल है। वेद के छह अंगों में छन्द को वेद का एक अंग स्वीकार लेना ही उसके महत्त्व का परिचायक है। छन्द शब्द छद् धातु से बना है। इसका अर्थ है– बाँधना या आच्छादन करना। जो बँधा हुआ हो, नियमित हो और आह्लादित करे, वह छन्द कहा जा सकता है। छन्द के बारे में छन्द प्रभाकर में इस प्रकार कहा गया है –

मत्त वरण गति यति नियम, अन्त ही समता बन्द।
जा पद रचना में मिले, भानु भनत सुइच्छन्द।।
भानु भनत प्रति छन्द में, चरण होत हैं चार।
घट बढ़ विशमनि छन्द में, कविजन लेत विचार।।[18]

वर्णों या मात्राओं की संख्या व क्रम तथा गति–यति और चरणान्त के नियमों के अनुसार होने वाली रचना को छन्द कहते हैं। छन्द में वर्ण, मात्रा, गण, यति, गति आदि को इस प्रकार बाँधकर रखा जाता है कि उसे पढ़कर या सुनकर मन आह्लादित हो उठता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छन्द को इस प्रकार परिभाषित किया है –

'छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न–भिन्न ढाँचों का योग है, जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। इस प्रकार गद्य का नियामक व्याकरण है तो कवित्त का छन्द शास्त्र। छन्द शास्त्र वह शास्त्र या विज्ञान है, जिसमें छन्दों की रचना विधि या उसके भेद–प्रभेदों आदि का शास्त्रीय विवेचन होता है। छन्द शास्त्र को पिंगल शास्त्र भी कहते हैं; क्योंकि इसके प्रधान प्रवर्तक आचार्य श्री पिंगलाचार्य थे।

कविता में छन्दों का उपयोग और महत्त्व –

आजकल कविता में छन्द बन्धन को भावों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में बाधक मानकर उसे अनिवार्य नहीं माना जाता है, फिर भी कविता में छन्दों के महत्त्व और उपयोग को नकारा नहीं जा सकता है; क्योंकि –

1) छन्द भावों की अभिव्यक्ति को स्पष्टतः और तीव्रतर रूप में प्रस्तुत करते हैं।

2) छन्द भावों को बिखरने से रोकते हैं और उनमें एक समता स्थापित करते हैं।

3) छन्द से कविता में सजीवता, रमणीयता, सौन्दर्य तथा प्रभाव की प्रतिष्ठा होती है।

4) छन्द कविता में प्रेशणीयता लाकर रस निष्पत्ति में योगदान देते हैं।

5) छन्दबद्ध रचना शीघ्र याद हो जाती है और चिरकाल तक स्मृति में बनी रहती है।

6) वेदों का स्वरूप छन्दबद्ध होने से ही अक्षुण्ण रहा है।

छन्द दो प्रकार के होते हैं – वार्णिक एवं मात्रिक।

मध्यकालीन कवियों ने दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। द्यानतराय ने वार्णिक एवं मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। वार्णिक छन्दों में चामर, मत्तगयन्द, सवैया, दुर्मिल सवैया एवं मनहर कवित्त – इन चार छन्दों का तथा मात्रिक छन्दों में दोहा, चौपाई, सोरठा, अडिल्ल, पद्धरि, छप्पय, कुण्डलिया, आर्या, घत्ता, त्रिभंगी, हलाल, हरिगीतिका और रोला इन तेरह छन्दों का प्रयोग हुआ है।

काव्य में अन्तर्निहित भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वर के आरोह व अवरोह की आवश्यकता होती है। भाषा की सजीव अभिव्यक्ति के लिए नादसौन्दर्य को उच्च, नम्र, समतल, विस्तृत और सरस बनाने के लिए अनुभूतियों व चिन्तन को प्रभावी बनाने के लिए भाषा की लाक्षणिकता बनाने हेतु एवं आत्मविभोर करने या होने के लिए छन्द योजना आवश्यक है।

प्रभावपूर्ण लयात्मक अभिव्यक्ति जो वर्ण, मात्रा, गति और तुक के नियमों से परिचालित हो, छन्द कहलाती है। बाह्य जीवन और जगत की बहुत–सी घटनायें हमारी आत्मा को प्रभावित करती हैं, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप लयात्मक अभिव्यक्ति उत्पन्न होती है। यही लयात्मक अभिव्यक्ति छन्द का रूप है। लय कवि की अभिव्यक्ति और अनुभूति दोनों पर

आच्छादित होती है। अतः छन्द कवि की आत्मा की लयात्मक अभिव्यक्ति है।

वीरगाथा काल में प्राकृत भाषा में दोहा, पद्धरिया और डिल्ला आदि छन्दों का प्रचलन रहा। इसके अतिरिक्त रासों में रोला और छह पद का भी प्रयोग हुआ। भक्तिकालीन ज्ञानमार्गी कवियों ने सामान्यरूप से दोहा, सबद और रमैनी छन्दों में अपने भाव व्यक्त किये। प्रेममार्गी कवियों ने चौपाई और दोहा को अपने प्रबन्ध काव्यों का माध्यम बनाया। चौपाई में प्रबन्ध प्रवाह और लय परिवर्तन हुआ। सगुण भक्ति काव्य में हरिगीतिका सोरठा, रोला, छप्पय और सवैये का प्रयोग हुआ। तुलसीदास ने छन्द विधान की सभी प्रचलित पद्धतियों को अपनाकर छन्दों का रूप परिष्कृत किया। सूरदास ने भी चौपाई, छप्पय, सोरठा, दोहा, दण्डक पद्धरि को अपनाकर छन्दों का रूप परिष्कृत किया है।

रीतिकाल में भी वे ही छन्द प्रचलित हुए, जो आदिकाल और भक्तिकाल में प्रचलित थे। हिन्दी के भक्ति काव्य में पदों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे पदों के प्रधान रचयिताओं में कबीर, सूरदास, मीरा, तुलसीदास आदि उच्च कोटि के कवि माने गये हैं। महाकवि सूरदास के पदों को देखकर आचार्य रामचन्द्र षुक्ल ने इनका सम्बन्ध किसी प्राचीन परम्परा से होने का अनुमान किया है। डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनका उपगम बौद्ध सिद्धों के गाने से माना है। पदों का मूल रूप कुछ भी हो, किन्तु भक्ति और अध्यात्म के क्षेत्र में जैन कवियों ने भी पदों का खुलकर प्रयोग किया है।

जैन कवियों ने अपनी कविताओं में मात्रिक और वार्णिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु मात्रिक छन्दों की प्रधानता है; लेकिन जैन कवियों ने पदबन्धों के साथ–साथ दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, कुण्डलिया, सवैया, छप्पय आदि छन्दों का विशेष प्रयोग किया है। इनमें संगीतमयता से आध्यात्मिक रस बरसा है। जैन कवियों की छन्द योजना वैविध्यपूर्ण तो है ही, उसमें एक अनन्त संगीत की गूँज भी है, जो विभिन्न प्रकार की ढालों, रागिनियों आदि द्वारा हृदय के तार झंकृत कर देती है। इस प्रकार जैन कवियों ने अपनी कोमल पद रचना में लय, छन्द व राग–रागिनियों का सन्निवेष कर अनुभूति को अधिक आह्लादमय बनाने का प्रयास किया है। अपने पदों में रागात्मक अनुभूति की लयात्मक अभिव्यक्ति के लिए द्यानतराय ने बिहाड़ा, सारंग, विलावल, केवारी, सौरठ, गौड़ी,

रामकली, जासवरी, धनाक्षरी, ललित भैरव, मल्हार, बसन्त आदि राग–रागनियों का प्रयोग किया है।

द्यानतराय द्वारा प्रयुक्त छन्दों का विवेचन क्रमशः निम्नलिखित है –

(1) दोहा–यह मात्रिक अर्द्धसम छन्द होता है, जिसमें कुल 48 मात्रायें होती हैं। इसके पहले एवं तीसरे अर्थात् विषम चरणों में प्रत्येक में 13–13 मात्रायें तथा दूसरे और चौथे अर्थात् सम चरणों में 11–11 मात्रायें होती हैं और अन्त में तुक मिलती है। इसके पहले और तीसरे चरणों के अन्त में गुरु–लघु न हों। सम चरणों के अन्त में गुरु–लघु हों।

संस्कृत में श्लोक और प्राकृत में गाथा के समान अपभ्रंश में दोहा होता है। दोहा अपभ्रंश का अपना छन्द है, जिसे आरम्भ में 'देहा' कहा गया है। हिन्दी तक आते–आते यह छन्द 'दोहा' आदि रूपों में व्यवहृत हुआ है। हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों ही प्रकार की रचनाओं में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है।

द्यानतराय ने भी इस छन्द का प्रयोग अपने साहित्य में खूब किया है। द्यानतराय ने सभी पूजनों में स्थापना व जयमाला के अन्त में दोहा छन्द का प्रयोग किया है।

यथा – (पूजन के प्रारम्भ में दोहा छन्द का प्रयोग)

जनम जरा मृतु छय करै, हरै कुनय जड़रीति।
भवसागर सौं ले तिरै, पूजैं जिन वच प्रीति।।[19]

(जयमाला के अन्त में दोहे छन्द का प्रयोग)

जा वाणी के ज्ञान तैं, सूझे लोक–अलोक।
'द्यानत' जग जयवन्त हो, सदा देत हों धोक।।[20]

द्यानत साहित्य में दोहा छन्द का प्रयोग हिन्दी की परम्परा के अनुसार ही हुआ है। द्यानतराय ने दोहे का प्रयोग भक्ति, उपदेश, अध्यात्म, दर्शन आदि के वर्णन में किया है।

(2) चौपाई– यह मात्रिक सम छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्रायें होती हैं। अन्त में जगण या तगण नहीं होता तथा कम से कम दो चरणों की तुक मिलती है। इसका विकास प्राकृत एवं अपभ्रंश के सोलह मात्रा वाले वर्णात्मक छन्द से हुआ है।

हिन्दी साहित्य में प्राचीन काल से ही चौपाई छन्द का प्रयोग

उपलब्ध है। द्यानतराय ने चौपाई छन्द का प्रयोग अपने साहित्य में पर्याप्त रूप से किया है।

द्यानतराय ने विद्यमान बीस तीर्थंकर पूजन की जयमाला चौपाई छन्द में ही लिखी है। यथा –

सीमन्धर सीमन्धर स्वामी, जुगमन्धर जुगमन्धर नामी।
बाहु बाहु जिन जग जन तारे, करम सुबाहु बाहुबल दारे।
जात सुजातं केवलज्ञानं, स्वयंप्रभु प्रभु स्वयं प्रधानं।
ऋषभानन ऋषिभानन दोशं, अनन्त वीरज वीरज कोसं।[21]

इसी प्रकार दशलक्षण पूजन की जयमाला भी चौपाई छन्द में लिखी गयी है; जो कि जैन समाज में अत्यधिक प्रसिद्ध व प्रचलित है। यथा –

उत्तम छिमा जहाँ मन होई, अन्तर बाहर शत्रु न कोई।
उत्तम मार्दव विनय प्रकासे, नाना भेदज्ञान सब भासे।।
उत्तम आर्जव कपट मिटावे, दुर्गति त्याग सुगति उपजावे।
उत्तम सत्य वचन मुख बोले, सो प्राणी संसार न डोले।।[22]

द्यानतराय ने सोलह कारण पूजन में चौपाई आँचलीबद्ध का प्रयोग किया है एवं जयमाला में चौपाई छन्द का प्रयोग किया है।

(3) सोरठा– दोहा की भाँति सोरठा भी मात्रिक अर्द्धसम छन्द है। रचना की दृष्टि से सोरठा, दोहा छन्द का उलटा होता है। इसके प्रथम व तृतीय चरण में ग्यारह–ग्यारह तथा द्वितीय व चतुर्थ चरण में तेरह–तेरह मात्रायें होती हैं। 'प्राकृत पेंगलम्' में सोरठा को अपभ्रंश सोरठा कहा गया है।[23] हिन्दी साहित्य में सोरठा छन्द का व्यवहार प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों काव्य रूपों में उपलब्ध होता है। द्यानतराय ने अपनी पूजनों में सोरठा छन्द का प्रयोग किया है।

(4) छप्पय– छप्पय संयुक्त मात्रिक विषम छन्द है। इसमें छह पद तथा एक सौ अड़तालीस मात्रायें होती हैं। प्रायः इसका प्रयोग वीर रस में होता है, परन्तु द्यानतराय ने इसका प्रयोग अन्य रसों में भी विषयानुसार किया है। इसका प्रयोग चर्चाशतक में, पूजनों में एवं धर्म विलास में देखने को मिलता है।

(5) अडिल्ल– अडिल्ल मात्रिक सम छन्द है।[24] अडिल्ल छन्द का प्रयोग सामान्य इतिवृत्तात्मक प्रकरणों में हुआ है। द्यानतराय ने मुक्तक प्रकीर्ण साहित्य चर्चाशतक एवं धर्मविलास में इसका प्रयोग किया है। कवि

ने अडिल्ल छन्द का प्रयोग नरक वर्णन, सप्त व्यसन त्याग वर्णन आदि वर्णनात्मक स्थलों पर किया है।

(6) पद्धड़ी– यह मात्रिक सम छन्द है। अपभ्रंश साहित्य में सामान्य वर्णन में उसका प्रयोग किया गया है। हिन्दी में चारण कवियों ने सामान्य वर्णन की परम्परा को गौण रखकर युद्धवर्णन एवं वीररस के वर्णन के लिए इसका प्रयोग किया है। कवि ने इसके प्रयोग में हिन्दी की परम्परा का निर्वाह न करते हुए अपभ्रंश की सामान्य परम्परा का पालन किया है।[25]

(7) कुण्डलिया – यह एक मात्रिक छन्द है। यह छन्द अपभ्रंश से लेकर आज तक हिन्दी में व्यवहृत होता रहा है। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में भक्त एवं नीतिवेत्ता कवियों द्वारा कुण्डलिया छन्द का सर्वाधिक व्यवहार हुआ है। द्यानतराय के प्रकीर्ण साहित्य में, उपदेश शतक, दान बावनी, ज्ञानदशक आदि में इसका प्रयोग किया है।[26]

(8) सवैया– सवैया वार्णिक छन्द होता है और इसके प्रत्येक चरण में 22 से लेकर 26 तक वर्ण होते हैं, जिनमें गणों का निश्चित क्रम रहता है। इस प्रकार 22 से लेकर 26 वर्णों तक के चरण रखनेवाले छन्द को सवैया कहते हैं।[27] द्यानतराय ने भगण से बननेवाले मदिरा सवैया[28] एवं मत्तगयन्द सवैयों[29] का प्रयोग उपदेश शतक में किया है।

(9) कवित्त– यह लय–प्रधान अगणात्मक और यत्यात्मक वार्णिक छन्द होता है। सोलह और पन्द्रह वर्णों पर विराम के साथ यति, चारुता के लिए अन्त में गुरु वर्ण रखते हुए इसमें 31 वर्ण होते हैं। इसे 'मनहरण' या 'घनाक्षरी' भी करते हैं। इसमें गति पर विशेष ध्यान रखा जाता है, जो दो प्रकार की होती है। प्रथम है सत्वर गति और दूसरी है मन्थर गति। सत्वर गति वाले कवित्त को घनाक्षरी और मन्थर गति वाले को मनहरण कहते हैं। द्यानतराय ने अपने काव्य में दोनों का प्रयोग किया है।[30]

इसके अतिरिक्त द्यानतसाहित्य में ऐसे छन्दों का भी उल्लेख मिलता है, जो तत्कालीन प्रचलित राग और छन्दों के मिश्रित रूप कहे जा सकते हैं। ये छन्द हैं– चाल[31], पुष्पमंजरी[32], ढाल[33], गौरी राग[34], मोतीदाम[35], भुजंगप्रयात[36] एवं मल्लिकामाला[37] आदि। कवि द्यानतराय की रचनाओं में विभिन्न छन्दों का प्रयोग इस प्रकार है –

(1) उपदेश शतक – छप्पय, सवैया इकतीसा, करला, कुण्डलिया,

कवित्त, अडिल्ल, मन्दाक्रान्ता, मत्तगयन्द सवैया, अशोक, पुष्पमंजरी, शार्दूलविक्रीडित।

(2) **सुबोध पंचासिका** – सोरठा, चाल, ढाल और दोहा।

(3) **दान बावनी** – छप्पय, सवैया, कुण्डलिया, कवित्त, अडिल्ल, सोरठा, चौपाई और दोहा।

(4) **तत्त्वसार भाषा** – दोहा, चौपाई और सोरठा।

(5) **धर्म पच्चीसी** – दोहा और चौपाई।

(6) **दर्शन दशक** – छप्पय।

(7) **ज्ञानदशक** – कुण्डलिया।

(8) **द्रव्यादि चौबीस पच्चीसी** – सोरठा, सवैया और कवित्त।

(9) **व्यसन त्याग शोडष** – सवैया, कवित्त, अडिल्ल और छप्पय।

(10) **सरधा चालीसी** – दोहा और चौपाई।

(11) **सुख बत्तीसी** – दोहा और चौपाई।

(12) **विवेक बीसी** – छप्पय।

(13) **भक्ति दशक** – सवैया।

(14) **धर्म रहस्य बावनी** – सवैया तेईसा।

(15) **चार सौ छह जीव समास** – दोहा, चौपाई, अडिल्ल और सोरठा।

(16) **दश स्थान चौबीसी** – छप्पय।

(17) **व्यवहार पच्चीसी** – सवैया।

(18) **आरती दशक** – गौरी राग।

(19) **दश बोल पच्चीसी** – छप्पद।

(20) **जिनगुण माल सप्तमी** – अशोक, पुष्पमंजरी और सवैया।

(21) **समाधिमरण** – जोगीरासा।

(22) **आलोचना पाठ** – चौपाई।

(23) **एकीभाव स्तोत्र** – चौपाई और दोहा।

(24) **स्वयंभू स्तोत्र** – चौपाई और दोहा।

(25) **पार्श्वनाथ स्तवन** – भुजंगप्रयात और सोरठा।

(26) **तिथि षोडशी** – दोहा और चौपाई।

(27) **स्तुति बारसी** – दोहा।

(28) **यति भावना अष्टक** – सवैया और दोहा।

(29) **सज्जन गुण दशक** – सवैया।
(30) **वर्तमान चौबीसी दशक** – कवित्त, सवैया और दोहा।
(31) **अध्यात्म पंचासिका** – दोहा।
(32) **नेमिनाथ बहत्तरि** – अडिल्ल, सोरठा, मोतीदाम और चौपाई।
(33) **वज्रदन्त कथा** – चौपाई।
(34) **आठ गण छन्द** – दोहा और सोरठा।
(35) **धर्म चाह गीत** – चौपाई।
(36) **आदिनाथ स्तुति** – रेखता।
(37) **शिक्षा पंचाशिका** – दोहा, सोरठा और चौपाई।
(38) **युगल आरती** – दोहा, चौपई, सोरठा और चौपाई।
(39) **वैराग्य छत्तीसी** – दोहा, चौपाई और सोरठा।
(40) **वाणी संख्या** – दोहा, चौपाई और सोरठा।
(41) **पल्ल पच्चीसी** – दोहा, चौपाई, सवैया और सोरठा।
(42) **षड्गुण हानिवृद्धि बीसी** – दोहा और सवैया।

विभिन्न रचनाओं में विभिन्न छन्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि द्यानतराय छन्द शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। पदों के अतिरिक्त कवि के अधिक प्रिय छन्द दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त और सवैया रहे; किन्तु महाकवि केशव के समान द्यानतराय ने मोतीदाम, अशोक, पुष्पमंजरी, सुन्दरी जैसे अप्रचलित एवं कठिन छन्दों में भी अपनी काव्याभिव्यक्ति की।

(3) अलंकार विधान

अलंकार का अभिप्राय सौन्दर्य साधन से है। काव्य के शरीर को सजाने के लिए जो आभूषण काम में लाये जाते हैं, उनको अलंकार कहते हैं। किसी ने कहा भी है–'काव्यशोभाकरानलंकरान् प्रचक्षते' अर्थात् काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।[38]

अलंकार शब्द का अर्थ है– वह वस्तु जो सुन्दर बनाये या सुन्दर बनाने का साधन हो। अलंकरोति इति अलंकारः। अथवा अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः।[39] साधारण बोलचाल में अलंकार गहने को कहते हैं। गहने पहनने से मनुष्य की शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार काव्य में अलंकारों से काव्य की शोभा बढ़ती है।

अलंकारों का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अलंकारों की सहायता से

काव्य में रोचकता बढ़ जाती है। वह आकर्षक और साथ ही प्रभावशाली हो जाता है। अलंकारों से वर्ण्य विषय को स्पष्ट और सुबोध बनाने में भी सहायता मिलती है। इस प्रकार अलंकारों की उपादेयता असंदिग्ध है। काव्य में उनका प्रयोग वांछनीय है। प्रसिद्ध जैन विद्वान डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री काव्य में अलंकारों की बड़ी उपयोगिता मानते हैं। वे कहते हैं–'अलंकार अनुभूति को सरस और सुन्दर बनाते हैं। कविता में भाव प्रवणता तभी आ सकती है, जब रूप योजना के लिए अलंकृत और सँवारे हुए पदों का उपयोग किया जाये।'[40]

सुन्दर भावों की सरस अभिव्यक्ति के लिए श्रेष्ठ अलंकारों की योजना आवश्यक है। "व्यावहारिक धरातल पर अलंकारों के द्वारा अपने कथन को कवि या लेखक श्रोता या पाठक के मन में भीतर तक बैठाने का प्रयत्न करता है। बात को बढ़ा–चढ़ाकर उसके मन का विस्तार करता है। बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन कर आश्चर्य की उद्भावना करता है तथा बात को घुमा–फिराकर वक्रता के साथ कहकर पाठक की जिज्ञासा को उद्दीप्त करता है।[41]

द्यानतराय ने बलात् अलंकारों को लाने का प्रयास नहीं किया, अपितु उनकी रचनाओं में अलंकार स्वभावतः आ गये हैं। द्यानतराय सहित प्रायः सभी जैन कवियों ने भावगत सौन्दर्य को अक्षुण्ण रखते हुए स्वाभाविकरूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में श्री नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य लिखते हैं कि हिन्दी जैन कवियों की कविता कामिनी अनाड़ी राजकुलांगना के समान न तो अधिक अलंकारों के बोझ से दबी है और न ग्राम्यबाला के समान निराभरणा ही है। इसमें नागरिक रमणियों के समान सुन्दर उपयुक्त अलंकारों का समावेश किया गया है।[42]

द्यानतराय के साहित्य में प्रयुक्त अलंकार निम्न हैं –

(1) अनुप्रास– अनुप्रास में वर्ण या वर्णसमूह अनेक (दो या अधिक) बार आता है, कभी वर्ण की जगह शब्द या शब्दांश भी आता है। द्यानतराय के काव्य में अनुप्रास के अनेक उदाहरण हैं –

तात भात भ्रात नात, सात धात जात गाज।
हम सौ निराल सदा, चित्त क्यों सुमाय है।।[43]
इन्द ओ फनिन्द वद जच्छ जो नरिंद विंद।

तीन काल तास वन्दि होत मौख भुप।।[44]

नमत मन वचन तन, सकल मद मय हरन।।[45]

जिन जिनराय जिनन्द जगतपति, जग तारन जगमान।

परमातम परमेस परमगुरु, परमानन्द प्रधान।।[46]

(2) पुनरुक्ति प्रकाश—जब शब्द की आवृत्ति हो, प्रत्येक बार अर्थ अभिन्न हो और अन्वय भी प्रत्येक बार अभिन्न हो।[47] वहाँ पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार होता है। कवि के काव्य में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार कई स्थानों पर मिलता है –

जै जै स्वामी आदिनाथ, देवों के देवा।

जै जै स्वामी आदिनाथ, मैं कीनी सेवा।।[48]

वीतराग को धर्म, सर्व जीवन को तारन।

वीतराग को धर्म, कर्म को कटै निवारन।।

वीतराग को धर्म, प्रगट क्रोधादिक नासै।

वीतराग को धर्म, ग्यान केवल परगासै।।[49]

(3) यमक—जब कोई शब्द अनेक (दो या दो से अधिक) बार आये और अर्थ प्रत्येक बार भिन्न हो। कभी–कभी पूरा शब्द दुबारा न आकर उस शब्द का कुछ अंश दुबारा आता है, उस अवस्था में भी यमक होता है। द्यानतराय के काव्य में यमक अलंकार का उदाहरण दृष्टव्य है –

महावीर महावीर, धीर पर पीर निवारन।

बड़े पुष्प संसार, सार संपति सुख कारन।।[50]

आप भजत अघ भजत भजत सब दौष भयंकर।।[51]

पंचन को पीछे चले, पंच वही सिरदार।।[52]

(4) श्लेष—जब वाक्य में एक से अधिक अर्थवाले शब्द या शब्दों का प्रयोग किया जाय और इस प्रकार एक से अधिक अर्थों का बोध कराया जाये। द्यानतराय के काव्य में यह अलंकार अवलोकनीय है –

कर भाजन कूआ निकट, गुन विन लहै न नीर।

सौ गुन क्यों नहि धारिये, जो बुधि होय शरीर।।[53]

(5) उपमा—उपमा में किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के समान बताया जाता है। दोनों वस्तुओं में कोई साधारण धर्म अर्थात् ऐसा गुण होता है, जो दोनों में पाया जाता है। उस साधारण धर्म के कारण दोनों में समानता बतायी जाती है। उपमा में उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक शब्द चार तत्त्व

होते हैं।[54] द्यानतराय के काव्य में इसके कई उदाहरण प्रस्तुत हैं –

इस खारवार संसार में, कल्पवृक्ष तुम दरस है।[55]
ऐसे महाराज जिनराज हैं जिहाज सम।।[56]
यह संसार असार है, कदली वृक्ष समान।
यामै सारपनो लहै, सो मूरख परधान।।
सो मूरख परधान, मानि कुसुमनि नम देखे।
सलिल मथे धृत वहै, श्रृंग सुन्दर खर पैले।।[57]

(6) मालोपमा–जब उपमा में एक उपमेय के अनेक उपमान हों[58], मालोपमा एक प्रकार का उपमा अलंकार ही है। अन्तर इतना ही है कि उपमा के उपमान एक ही होता है, मालोपमा में उपमान अनेक होते हैं। द्यानतराय के काव्य में मालोपमा के कई उदाहरण हैं। जैसे–

पललै कलप तरु बेलि ज्यों, वंछित सुर नर राज।
चिंता मनि ज्यों देत है, चिंतित अर्थ समाज।।
स्वामी तेरी भगति सौ, भक्त पुण्य उपजाय।
तीन अरथ सुख भोग के, तीनों जग के राय।।[59]
सुरज सम तन मास कै, ससि सम वचन प्रकास हो।
मेय समान सुजी रे, सुरतरु सम गुण रास हों।।[60]
चन्द बिना निसि गज विनदत, जैसे तरुण नारि विन कंत।
धर्म बिना त्यों मानुष देह, तातैं करियै धर्म सनेह।।[61]
गुण अनंत भगवंत अंत नहिं, ससि कपूर हिम पीर।
द्यानत एकहु गुण हम पावै, दूरि करै भव भीर।।[62]

(7) रूपक– जब एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप किया जाये अर्थात् जब एक वस्तु को दूसरी वस्तु का रूप दिया जाये अर्थात् जब एक वस्तु को दूसरी वस्तु बना दिया जाये, वहाँ रूपक अलंकार होता है। द्यानतराय के काव्य में रूपक अलंकार का प्रयोग पर्याप्त है।

मैं कहे चहूँ गति गमन को, दया विसन लीनों पकर।
तव करम साह के हुकम तै, चढ़यौ मुकति गढ़ ग्वालियर।।[63]
भवि पूजो मन वच श्री जिनन्द, चितचौर सुख करन इंद।
कुमति कुमुदिनी हरन सूर, विषन सघन वन दहन भूर।।
पाप डरंग प्रभु नाम मोर, मोह महा तन दलन मोर।
दुख दारिद्र हर अनय रेन, द्यानत प्रभु दे परम चैन।।[64]

(8) उदाहरण–अलंकार – नीतिपरक चर्चाओं में कवि द्वारा उदाहरण अलंकार का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग परम्परागत होते हुए भी यत्र–तत्र नवीनता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। उदाहरण अलंकार को अलंकार पारिजात में इस प्रकार परिभाषित किया है –

जब एक बात कहकर उसके उदाहरण के रूप में एक दूसरी बात कही जाय और दोनों को जैसे, ज्यों, जिमि आदि किसी उपमा वाचक शब्द से जोड़ दिया जाये, तो वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। जैसे –

अब हम आतम को पहिचाना।
जैसा सिद्ध क्षेत्र में राजै, वैसा घट में जाना।।1।।

भक्तिकालीन निर्गुण और सगुण भक्त कवियों की तरह द्यानतराय में भी अलंकारों के प्रति आग्रह की बात नहीं दिखती। उन्होंने अपनी नैतिक, धार्मिक, जनोपयोगी आदि चर्चाओं में सहजरूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों में कवि ने प्रस्तुत से अप्रस्तुत एवं बाह्य से अंतस् को जोड़ा है। पूर्व प्रचलित हिन्दी जैन कवियों की परम्परा में भी कवि द्वारा अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है।

(4) प्रतीक योजना

प्रतीकों के माध्यम से भाषा को भावप्रवण बनाने के साथ–साथ भावों की यथार्थ अभिव्यंजना की जाती है। इसलिए प्रत्येक भावुक कवि तीव्र रसानुभूति के लिए प्रतीक योजना का अवलम्बन लेता है। श्री नेमिचन्द जैन 'ज्योतिषाचार्य' प्रतीक को परिभाषित करते हुए कहते हैं – वर्ण्य विषय के गुण या भाव साम्य रखनेवाले बाह्य चिह्नों को प्रतीक कहते हैं। मानव हृदय के गुह्यतम अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्राकृतिक प्रतीकों को माध्यम बनाया जाता है। ये प्रतीक अमूर्त भावनाओं की प्रतीति कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। मानव हृदय के अमूर्त भावों का साक्षात्कार इन्द्रियों के द्वारा नहीं किया जा सकता है। वे अमूर्त भावनाएँ प्रतीक योजना के आश्रय से हृदय पर सर्वाधिक गम्भीर प्रभाव डालती है।[65]

प्रतीक योजना अमूर्त को मूर्तरूप देकर अत्यन्त सूक्ष्म भावनाओं का साक्षात्कार कराने में समर्थ होती है। विविध संस्कृतियों के अनुसार काव्य में रसोद्रेक के लिए साहित्यकार भिन्न–भिन्न प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। सभ्यता, शिष्टाचार, आचार, व्यवहार तथा आत्मदर्शन के अनुरूप प्रत्येक

साहित्यकार अपनी काव्यकला में प्रतीकों की उद्भावना करता है। हिन्दी जैन साहित्य में उपमान के रूप में प्रतीकों का प्रयोग अधिक हुआ है।

विद्वानों ने प्रतीकों के दो भेद किये हैं –

1. भावोत्पादक तथा 2. विचारोत्पादक। हिन्दी जैन साहित्य में इन दोनों भेदों के शुद्ध उदाहरण नहीं मिलते हैं। सुविधा के लिए जैन साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों को चार भेदों में विभक्त किया जा सकता है।

1. गुण व सुखबोधक प्रतीक 2. विकार एवं दुःख बोधक प्रतीक 3. शरीर–बोधक प्रतीक 4. आत्मबोधक प्रतीक

हिन्दी के जैन कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का वर्गीकरण करते हुए डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री भी प्रकारान्तर से ऐसे ही वर्गीकरण को स्थिर करते हैं।

भाव, स्वरूप तथा सामग्री के आधार पर समग्र द्यानतराय के साहित्य में व्यवहृत प्रतीकों को हम निम्नलिखित चार भागों में विभाजित कर सकते हैं –

1. सुखबोधक प्रतीक 2. दुःखबोधक प्रतीक

3. शरीरबोधक प्रतीक तथा 4. आत्मबोधक प्रतीक।

इनका विस्तृत विवेचन निम्नांकित है–

1. सुखबोधक प्रतीक–यद्यपि सुख की अनुभूति एवं प्राप्ति आत्मा के आश्रय एवं अवलम्बन से ही होती है, तथापि संसारी जीव इन्द्रिय विषयों एवं भोगों में सुख की मिथ्या कल्पना कर सुख की अनुभूति कर लेता है। कवि द्यानतराय ने अपने समग्र साहित्य में मुकुट[66] भूषन, मिठाई, मेवा, मृदंग[67], गुलाल, पिचकारी, पुण्य उदय को सुख का प्रतीक स्वीकार किया है।

2. दुःखबोधक प्रतीक–समस्त प्रतिकूलताएँ एवं इन्द्रियजनित असन्तुष्टियाँ दुःख का कारण हुआ करती हैं। वास्तव में तो दुःख का कारण जीव का मिथ्याज्ञान, मोह–राग–द्वेष है, जिसके कारण ही संसार दुःखरूप हो जाता है। द्यानतराय ने संसार को दुःख का कारण मानकर जलधि एवं उनके पर्यायवाची शब्द सरवर, उदधि, भव–सागर[68] आदि को संसार का प्रतीक एवं पंछी[69], प्रानी[70] को संसारीजन का प्रतीक बताया है।

3. शरीरबोधक प्रतीक–सुख–दुःख की तरह शरीर का बोध करानेवाले अनेक प्रतीकात्मक शब्दों का व्यवहार भी द्यानतराय ने अपने साहित्य में किया है। चरखा, पिंजरा, कोंपल, तालाब, गागरे, कान्तारे आदि। इसके अतिरिक्त कवि द्वारा जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा एवं तीर्थंकर की संज्ञा का

बोध कराने के लिए विविध चिह्नों का व्यवहार भी किया गया है।

4. आत्मबोधक प्रतीक–निराकार को आकार देने के लिए द्यानतराय ने आत्मबोधक शब्दों का प्रयोग किया है। जो निम्नांकित हैं–आत्मा–हंस, मन–सूवा।

महाकवि द्यानतराय की प्रतीक योजना के साधन उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, सारोपा, साध्यावसाना लक्षणा रहे हैं। अन्य हिन्दी जैन कवियों की परम्परा की भाँति द्यानतराय ने भी प्रतीकों का प्रयोग अधिकतर रूपक अलंकार के रूप में किया है; परन्तु कहीं–कहीं प्रतीकों का प्रयोग अपने सहजरूप में मिलता है। कवि के प्रतीक जैन परम्परानुमोदित तो हैं ही, साथ ही लोक जीवन से भी लिये गये हैं। कवि की प्रतीक योजना में स्वाभाविक बोधगम्यता दिखाई देती है। बोधगम्य प्रतीकों के कारण भावों एवं सूक्ष्म मनोवृत्तियों के उद्‌बोधन में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। इसी प्रकार अप्रस्तुत भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त प्रतीकों द्वारा रसोद्बोधन एवं भावोद्बोधन में भी सफलता दृष्टिगत होती है।

इसप्रकार द्यानतसाहित्य में जैन परम्परानुमोदित सुखबोधक, दुःखबोधक, शरीरबोधक और आत्मबोधक प्रतीकों का प्रायः रूपक अलंकार की भाँति प्रयोग किया गया है।

(5) द्यानतसाहित्य में मुहावरे और कहावतें

महाकवि द्यानतराय ने अपने भावों एवं अनुभूतियों की विशेष प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा में मुहावरे एवं कहावतों का प्रयोग किया है।

मुहावरे[71] और कहावतों[72] की अपनी–अपनी विभिन्न विशेषताएँ हैं।[73] इन विशेषताओं से युक्त होने के कारण द्यानतसाहित्य अनूठा बन पड़ा है। द्यानतराय ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों द्वारा बड़ी से बड़ी बात को अति प्रभावशील ढंग से सूक्ष्म परिवेश में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

द्यानतराय ने अपने साहित्य में निम्नलिखित मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग किया है –

क्रमांक काव्य में प्रयुक्त रूप	मूलरूप कृति का नाम
1. आकाश के फूल	कुसुमनि नभ देखै, उपदेश शतक–30
2. अंजुलि पानी होना	आव घटै जिम अंजुलि पानी उपदेश शतक–26

3. सिर धुनना	तहाँ पिछतात सिर धुनै यौं ही उपदेश शतक–24
4. अंधे के हाथ बटेर लगना	जिम छांडत अंध बटेर गहिको उपदेश शतक–29
5. कथनी और करनी में अंतर	कोटि जनम कथनी कथै करनी बिन दुखिया। अध्यात्म पद संग्रह, भजन–52, पृ.–30
6. बगुला ध्यान धरना	कहा भयो बक ध्यान धरै तै, अध्यात्म पद संग्रह, भजन–43, पृ.–30
7. मृग–जल	मृग जल बुध ज्यौ धाए, हिन्दी पद संग्रह, भजन–129,पृ.109
8. अमृत से पाँव धोना	पाय अमृत पाँव धोवे हिन्दी पद संग्रह, पृ. 116
9. भोंदू होना	पाप उदय लखि रोवत भोंदू, द्यानतविलास, 48
10. विष की बेल होना	विषय प्रगट विष बेल है, इनमें जिन अटकै द्यानतविलास, 5
11. बिना एकडें की बिन्दी	जैसे बिना एकड़े बिन्दी, द्यानतविलास, 38
12. गूँगे का गुड़ खाना	गूँगे का गुड़ खाय कहैं किमि, वही, 60
13. पलक झपकना	आँख की पलक मान साता तौ तहाँ न जान, उपदेशशतक, 51
14. आँखें मूँदना	तिन्हैं सुचि मानै आँखि मूँदी उपदेशशतक, 60
15. कूप–मंडूक होना	जानै नाहिं ग्यान सर कूपकै से भेक है उपदेशशतक, 109

मुहावरों की भाँति लेखक ने अपने काव्य में कहावतों का भी प्रयोग किया है। द्यानत साहित्य में व्यवहृत कहावतें निम्नलिखित हैं–

1) फिर पछताय होय क्या, जब चिड़िया चुग गईं खेत।

बहते पानी हाथ न धोवै, फिरि पछिताय होय का सार।।

दान बावनी, 19

2) बोया पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाय।
खाया चाहै आंब गंडेरी, बोवै आक धतुरे जी।

अक्षर बावनी, पद–6

3) एक पंथ दो काज।
दुःख निवारन सुखकरन, एक पंथ दो काज।

– शिक्षा पंचासिका, पद–33

4) बहते पानी में हाथ धोना।
बहते पानी हाथ न धौवे, फिरि पछिताय होय का सार।।

दान बावनी, 19

इस प्रकार द्यानतसाहित्य में विभिन्न मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग शब्दशः हुआ है। द्यानतराय ने इन कहावतों एवं मुहावरों का प्रयोग बिना किसी प्रयास के स्वाभाविकरूप से किया है। उनकी अभिव्यक्ति की सरलता में जो कहावत या मुहावरा सर्वथा उपयुक्त ठहरता है, उसका उन्होंने उपयोग किया है।

इन मुहावरों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति की सम्पन्नता एवं अलंकरण सौन्दर्य के लिए ही हुआ है। इससे अर्थ व्यंजना के साथ–साथ भाषा पर उनके असाधारण अधिकार का परिचय मिलता है। उनके मुहावरों में सुबोधता एवं अकृत्रिमता सर्वत्र विराजती है। वास्तव में मुहावरे एवं कहावतों के सम्यक् प्रयोग से भाषा में प्रभावशीलता पैदा हुई है तथा भावसौन्दर्य में अभिवृद्धि हुई है।

मन! मेरे राग भाव निवार

मन! मेरे राग भाव निवार।। मन
राग चिक्कनतैं लागत है, कर्मधूलि अपार।।मन...
राग आस्रव मूल है, वैराग्य संवर धार।
जिन न जान्यो भेद यह, वह गयो नरभव हार।।मन...
दान पूजा शील जप तप, विविध प्रकार।
राग बिन शिव सुख करत है, रागतैं सेसार।।मन...
वीतराग कहा कियो, यह बात प्रगट निहार।
सोई कर सुख हेत 'द्यानत' शुद्ध अनुभव सार।।मन...

सन्दर्भ सूची

1. द्यानतराय कृत सुबोध पंचासिका, प्रथम अध्याय, द्वितीय पद
2. हिन्दी पद संग्रह, श्री महावीर ग्रन्थमाला, पृष्ठ–112
3. वही, द्यानतराय के पद, पृष्ठ–129
4. आध्यात्मिक पाठ संग्रह, पृष्ठ–343
5. द्यानतराय कृत आराधना पाठ
6. हिन्दी पद संग्रह, भजन–140, पृष्ठ–116,
7. हिन्दी पद संग्रह, भजन–151, पृष्ठ–125
8. द्यानतराय कृत उपदेश शतक, पद–67
9. प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, तृतीय अध्याय
10. द्यानतराय कृत नन्दीश्वर पूजन
11. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–137
12. द्यानतविलास, पद–37
13. वही, छन्द–134, पृष्ठ–112
14. नन्दीश्वरद्वीप पूजन, जिनेन्द्र अर्चना, पृष्ठ–146
15. पंचमेरु पूजन, जिनेन्द्र अर्चना, पृष्ठ–144
16. हिन्दी पद्य संग्रह, पद–135, पृष्ठ–113
17. पार्श्वनाथ स्तोत्र, जिनेन्द्र अर्चना, पृष्ठ–275
18. छन्द प्रभाकर, मंगलाचरण, पृष्ठ–4
19. द्यानतराय कृत सरस्वती पूजन 20. वही
21. द्यानतराय कृत विद्यमान बीस तीर्थंकर पूजन
22. द्यानतराय कृत दशलक्षण पूजन
23. प्राकृत पेगलम्, 1:70, सम्पादक डॉ. भोलाशंकर व्यास, भाग–1, सन् 1959
24. हिन्दी विश्वकोश – सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ–170
25. जगन्नाथ प्रसाद भानु कृत छन्द प्रभाकर, पृष्ठ–95
26. द्यानतराय कृत उपदेश शतक, पद–30
27. काव्य एवं काव्यांग परिचय, पृष्ठ–14
28. द्यानतराय कृत उपदेश शतक, पद–61
29. द्यानतराय कृत उपदेश शतक, पद–6
30. द्यानतराय कृत उपदेश शतक, पद–31
31. सुबोध पंचासिका, पद–9, 10
32. उपदेश शतक, पद–79
33. सुबोध पंचासिका, पद–25 से 40
34. द्यानतराय कृत आरती दशक
35. नेमिनाथ बहत्तरी, पद–21 से 30
36. पार्श्वनाथ स्तवन

37. उपदेश शतक, पद–7
38. अलंकार पारिजात, पृष्ठ–2
39. अलंकार पारिजात, पृष्ठ–1
40. भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, प्रथम खण्ड, पृष्ठ–93
41. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, श्री नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य, पृष्ठ–237
42. वही, पृष्ठ–163
43. व्यवहार पच्चीसी, पद–22
44. उपदेश शतक, पद–2
45. उपदेश शतक, पद–21
46. जैन पद संग्रह, चतुर्थ भाग, पद–293
47. अलंकार पारिजात, पृष्ठ–11
48. उपदेश शतक, पद–17
49. उपदेश शतक, पद–58
50. दशस्थान चौबीसी, पद–27
51. उपदेश शतक, पद–67
52. शिक्षा पंचासिका, पद–36
53. शिक्षा पंचासिका, पद–34
54. अलंकार पारिजात, पृष्ठ–24
55. दर्शन दशक, पद–6
56. उपदेश शतक, पद–4
57. उपदेश शतक, पद–30
58. अलंकार पारिजात, पृष्ठ–28
59. स्तुति बारसी, पद–2, 3
60. नेमिनाथ बहत्तरी, पद–57
61. धर्म पच्चीसी, पद–11
62. जैन पद संग्रह, चतुर्थ भाग–पद, संख्या–87
63. विवेक बीसी, पद–4
64. जैन पद संग्रह, चतुर्थ भाग, पद–64
65. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग–2, नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ–143
66. अध्यात्म पद पारिजात, पृष्ठ–777, पद–482
67. वही, पृष्ठ–199, पद–513–514
68. हिन्दी पद संग्रह, पृष्ठ–116
69. हरे वृक्ष पै पंछी बैठा, रटता नाम हरि, अध्यात्म पद संग्रह, पृष्ठ–31
70. अध्यात्म पद संग्रह, पृष्ठ–32
71. अच्छी हिन्दी, रामचन्द्र वर्मा, पृष्ठ–198
72. राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन, डॉ. कन्हैयालाल, पृष्ठ–20
73. हिन्दी साहित्य कोश भाग–1, प्रो. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ–954

उपसंहार

मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य अपनी विपुलता, काव्य–गरिमा, भक्ति–वैभव एवं सांस्कृतिक देन के कारण भारतीय इतिहास में विशिष्टता पाए हुए है। नए अन्वेषणों के पश्चात् यह स्वीकार किया जाने लगा है कि इसकी मूल धाराएँ सन्त और वैष्णव काव्य धाराएँ ही नहीं, अपितु तीसरी जैन भक्ति काव्यधारा भी महत्त्वपूर्ण है। आदिकाल से ही जैन साहित्य ने लोक–कल्याण और आत्म–कल्याण की शिक्षा दी है। जैन साहित्यकारों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य का सृजन किया है।

पुष्पदन्त, भूतबलि, कुन्दकुन्द, गुणभद्र, उमास्वामी, स्वयंभू, समन्तभद्र जैसे समर्थ श्रमण सन्तों एवं बनारसीदास, भगवतीदास, भूधरदास, दौलतराम, द्यानतराय, भागचन्द, बुधजन जैसे उत्कृष्ट विद्वानों का नाम उनकी अमर काव्य–रचनाओं के कारण युगों–युगों तक लिया जाएगा।

हर कालखण्ड में जैन साहित्यकारों ने अपना वर्चस्व बनाए रखा है, इसलिए नहीं कि वे बुद्धिजीवी थे, वरन् मुख्यतः इसलिए कि जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों में जीव मात्र के आत्मविश्वास एवं आत्मोन्नयन की पूर्ण–सामर्थ्य विद्यमान है; क्योंकि यह जीवन की अनुभूतियों एवं सुख–दुःख की समस्याओं की त्रैकालिक आधारभूमि पर खड़ा है।

जैन साहित्यकारों की शृंखला में कवि द्यानतराय ने काव्य–सृजन कर हिन्दी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी अद्यतन पूजा–साहित्य, भाषा–साहित्य, संग्रह–साहित्य, विलास–शतक, एवं बावनी–साहित्य, सुबोध पंचासिका एवं स्तोत्र–साहित्य पर संभवतः चार दर्जन से अधिक स्तरीय कृतियाँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। यह सही है कि वे उपेक्षित, अचर्चित भी नहीं रहे। उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण साहित्य–सृजन से, अपने रसमय भक्ति गीतों–भजनों से अपने समय और समकालीन साहित्य को प्रभावित किया है। कविवर ने विपुल साहित्य का सृजन कर अवश्य ही प्राप्तव्य की प्राप्ति की है। कविवर द्यानतराय के काव्य सृजन का एकमात्र उद्देश्य अध्यात्म का निरूपण कर पारलौकिक सुख प्राप्त करना रहा है।

कविवर द्यानतराय का काव्य–सृजन अपने समय–सन्दर्भों और स्थितियों में एक कारगर कदम है। उनके काव्य में मात्र भक्ति का पुट ही

नहीं, अपितु उनका काव्य अध्यात्म रस से सराबोर है। उनके काव्य के आस्वाद से अध्यात्म की अनुभूति होती है और अन्तश्चेतना ऊर्ध्वोन्मुखता को प्राप्त होती है। उनके काव्य में किसी एक ही प्रतिबद्ध–पक्षधरता की जिद, एक ही एकांगी एकरस, जीवन दृष्टि का कीर्तिगान नहीं है। उनके काव्य में चारों ही अनुयोगों का प्रमुखता से वर्णन मिलता है।

उनका काव्य भक्ति एवं अध्यात्म की प्रचुरता के कारण ही जन–जन के कण्ठ में बसा हुआ है। आत्मा की रसमय–सम्बोधिमय समग्रता से कविवर द्यानतराय 'जन्मना कवि' हैं। उनकी साहित्यिक अस्मिता और पहचान का मूलतत्त्व उनका 'कृतिकवि' ही है और रहेगा।

जबकि साहित्यजगत और समय ने उनकी अवज्ञा नहीं की है, और न उन्हें अचर्तित ही छोड़ रखा है; फिर भी प्रायः ऐसा होता है कि समालोचकों द्वारा लेखक या काव्यकार का उसकी सम्पूर्ण प्रतिभा एवं व्यक्तित्व को समेटते हुए उचित व सही समाकलन नहीं होता। जब कोई लेखक या काव्यकार वर्षों तक एकनिष्ठ होकर रचना के कई क्षेत्रों में काम करता है तो संभावना रहती है कि उसके कोई पहलू और आयाम अछूते न रहे जाएँ।

कविवर द्यानतरायजी के बहुआयामी सृजन के साथ इस प्रकार के प्रमाद और शिथिलता की संभावना रह सकती है। अतः कविवर द्यानतरायजी के जीवन एवं साहित्य–साधना पर शोध करने का मानस बनाया।

कविवर द्यानतराय के कृतित्व पर दृष्टिपात करते हैं तो उनकी अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित रचनाएँ हिन्दी भाषा में उपलब्ध हैं, किन्तु अभी तक इन पर कोई शोधकार्य नहीं हुआ है, जबकि उनके विपुल साहित्य को देखें तो उनके साहित्य पर अनेक व्यक्ति शोध कार्य कर सकते हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए उनके साहित्य में समाहित अध्यात्मचेतना पर शोध कार्य किया गया।

द्यानतराय का योगदान

कवि द्यानतराय आध्यात्मिक कवि थे, इसलिए उनका हृदय सांसारिक जीवन और व्यवस्था के प्रति अनासक्त था, वे पूर्णतः नैतिक एवं धार्मिक व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने तत्कालीन विलासिता के विरुद्ध इन्द्रियों को जीतने की प्रेरणा दी। धर्म के नाम पर होनेवाले बाह्याडम्बरों के विरुद्ध मन,

वचन, कर्म में सामंजस्य एवं मन की पवित्रता पर बल दिया। साथ ही संसार, शरीर एवं भोगों की नश्वरता, अशरणता, दुःखरूपता आदि के द्वारा भौतिक सुख समृद्धि, मान–प्रतिष्ठा आदि को असार बतलाते हुए मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रेरणा प्रदान की एवं धार्मिक और नैतिक साहित्य की रचना करके समाज का उचित मार्गदर्शन किया।

द्यानतरायजी ने सांसारिक मोह–माया एवं इन्द्रिय–विषयों से अपने मन को हटाकर देव–शास्त्र–गुरु एवं शुद्धात्मतत्त्व में लगाने तथा सम्पूर्ण विश्व को कल्याण के मार्ग पर अग्रसित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने अपने साहित्य में दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक विचारों का प्रतिपादन किया। आत्मा को जानकर, पहचान कर उसमें ही लीन होने की बात कर जीवन में सत्य, दया, क्षमा, प्रेम आदि जो अपनाने की प्रेरणा दी। आत्मशुद्धि के लिए राग–द्वेष–मोह भावों को त्यागने का उपदेश दिया। उस समय व्याप्त सामाजिक जीवन में मद्यपान, चोरी, जुआ, आखेट, वेश्यासेवन, परस्त्रीगमन, मांसभक्षण आदि व्यसनों के दोष बतलाकर उनकी कटु आलोचना कर उन्हें आत्मकल्याण के लिए बाधक बताया एवं उन्हें छोड़ने की प्रेरणा दी। उन्होंने धार्मिक एवं आध्यात्मिक आचरण हेतु देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह आवश्यक कर्मों का महत्त्व प्रतिपादित किया तथा पंच महाव्रतों को आचरण में लाने की प्रेरणा दी।

द्यानतराय ने अपने उपदेशों द्वारा हमारी संस्कृति की रक्षा की, मानवीय मूल्यों को पुष्ट किया, जाति–पाँति का भेद मिटाया, स्वावलम्बन का भाव जगाकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी तथा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से द्यानतरायजी का अवदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

द्यानतरायजी ने धर्म का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, वह मात्र सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है। इसको किसी भी जाति, वर्ग एवं धर्म का व्यक्ति अपना कर अपना कल्याण कर सकता है। चूँकि कवि ने किसी विशेष व्यक्ति, धर्म, सम्प्रदाय के लक्ष्य से साहित्य का निर्माण नहीं किया है; अतः द्यानतसाहित्य को किसी भी जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय अपना सकता है। द्यानतसाहित्य न सिर्फ आत्मकल्याण की बात करता है, बल्कि उसमें

विश्वकल्याण की भावना भी सराबोर है। द्यानतराय ने साहित्य में मानवतावाद, समाजवाद और अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा कर विश्व में व्याप्त समस्त वैर–विरोध, कृत्रिम भेदोपभेद एवं विषमताओं को नष्ट कर मैत्री, भाईचारा, वात्सल्य भाव, रखने की बात कही है।

कवि ने कुरीतियों एवं बाह्याडम्बरों का विरोध कर मानवमात्र के कल्याण के लिए साहित्य की रचना की और अध्यात्मप्रधान भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

द्यानतराय ने देव–गुरु–धर्म का पोषण किया है। देव–गुरु–धर्म को आत्मकल्याण के लिए हितकारी बताकर उनकी उपासना का मार्ग प्रशस्त किया। साथ ही अहिंसा को अपनाकर हिंसा एवं सप्त व्यसनों को त्यागने की बात कही। चूँकि आत्मा बिना किसी साधनापरक पूर्व अभ्यास के निराकार पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता है। इसीलिए उसे ध्यान की एकाग्रता हेतु किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर द्यानतराय ने प्रतिमा पूजन का समर्थन किया। साथ ही उसे भावों की शुद्धता का कारण भी बताया है। प्रतिमा पूजन के विषय में तत्कालीन समाज में व्याप्त रूढ़ियों बाह्याडम्बरों का समाधान प्रस्तुत कर कवि ने समाज का बड़ा उपकार किया है।

वस्तुतः द्यानत साहित्य की आस्था उस धार्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नति या विकास में है; जहाँ आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द या निराकुल सुख को प्राप्त करता है। निराकुल सुख और अध्यात्म की प्राप्ति के लिए द्यानतरायजी के साहित्य की उपयोगिता आज भी है और भविष्य में भी रहेगी।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि द्यानतरायजी ने अज्ञानरूपी अन्धकार में भटकते जीवों को अध्यात्म की प्रेरणा देकर जगतजनों का दिशा–निर्देश कर ज्ञान–आलोक प्रदान कर नर से नारायण एवं पामर से तीन लोक का अधिपति बनकर अनन्तकाल तक निराकुल सुखी रहने का मार्ग प्रशस्त किया।

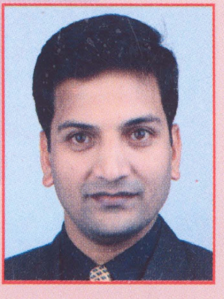

लेखक परिचय

डॉ. नितेश शाह मूलतः बांसवाड़ा जिले के रहवासी हैं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गृह जिले में ही हुई। पश्चात् इन्होंने पण्डित टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर में जैनदर्शन एवं संस्कृत से शास्त्री परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की, राजस्थान विश्वविद्यालय से एम. ए. (हिन्दी) परीक्षा में भी आप प्रथम रहे। आपने राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली से बी. एड. की उपाधि प्राप्त की।

राजस्थान विश्वविद्यालय के जैन अनुशीलन केन्द्र से आपने पीएच.डी. की उपाधि निदेशक डॉ. पी.सी. जैन के निर्देशन में प्राप्त की। आप जैन साहित्य एवं दर्शन के अच्छे ज्ञाता हैं। समय-समय पर आप कक्षाओं एवं व्याख्यानों से जैनसमाज को सहयोग देते रहते हैं।

आपकी रुचि लेखन एवं पठन-पाठन में है, आपके लेख धार्मिक एवं सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं। वर्तमान में आप दिल्ली पब्लिक स्कूल, जयपुर में हिन्दी-संस्कृत के अध्यापक पद पर कार्यरत हैं।

आपने अनेक सेमिनारों में जैन दर्शन एवं हिन्दी साहित्य पर अपने पत्रों का वाचन भी किया है।